जैन भारती

वर्ष 49 • अंक 3 • मार्च, 2001

5713

With best compliments from :

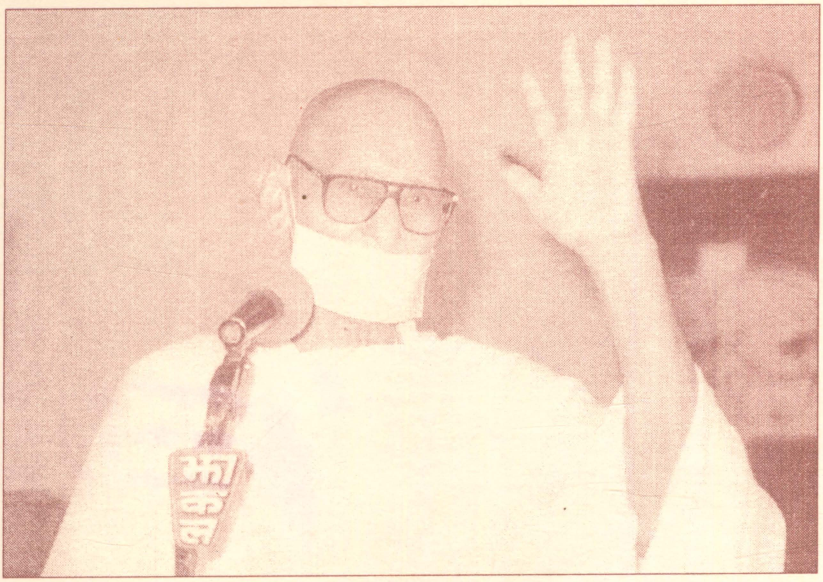

AMIT®
A CHOPRA PRODUCT
Mfg. Art Silk Sarees & Dress Material

AMIT – SYNTHETICS

Shop : W-3207, Surat Textile Market
Office : 402, Anand Market, Ring Road
SURAT 395002
Phone : 622076, 625680, 622027 Fax : 0261-636651

Pemchand Chopra Charitable Trust
W-3207, Surat Textile Market
Ring Road, SURAT

•

Jhamkudevi Chopra Charitable Trust
11-A,B, Sai Ashish Society
Udhaua Magdalla Road, SURAT

शुभू पटवा
मानद संपादक
●
बच्छराज दूगड़
मानद सह-संपादक

जैन भारती

मार्च, 2001 वर्ष 49 अंक 3 रु. 15.00

विमर्श

9
आचार्यश्री महाप्रज्ञ
आत्म-नियंत्रण से कषाय-मुक्ति

14
डॉ. महादेव राम विश्वकर्मा
आत्मज्ञान क्या है

17
डॉ. बलवंत जानी
आत्मविजय का नीतिशास्त्र

●
आवरण
अडिग
एवं
दीपचन्द

अनुभूति

23
साध्वी राजीमती
कषाय विवेचना

27
आचार्यश्री तुलसी
नारी के तीन रूप

29
समणी (डॉ.) निर्वाणप्रज्ञा
अहिंसा : चेतना का पुनराविष्कार

32
मुनि मदनकुमार
स्वाध्याय : चेतना विकास का सूत्र

34
कहानी
सुदर्शन
एथेन्स का सत्यार्थी

35
कविता
अञ्जू ढड्ढा मिश्र की कविताएं

प्रसंग

5
शुभू पटवा
यह जो देखते हैं

शीलन

41
समणी अमितप्रज्ञा
संयम की बात बजरिए भूकंप

44
समणी भावितप्रज्ञा
आहार : स्वाद नहीं साधना

48
बालकथा
रामकृष्ण परमहंस
कोई किसी का नहीं

51
भवानी सोलंकी
अहंकार और ममकार के विसर्जन का महोत्सव

55
जैन भारती पाठक पहेली

सदस्यता शुल्क
वार्षिक 125/- रुपये
त्रैवार्षिक 350/- रुपये
दसवर्षीय 1000/- रुपये

प्रधान कार्यालय
जैन श्वेताम्बर तेरापंथी महासभा
3, पोर्चुगीज चर्च स्ट्रीट
कोलकाता 700001

प्रकाशकीय कार्यालय
जैन श्वेताम्बर तेरापंथी महासभा
तेरापंथ भवन, महावीर चौक
गंगाशहर, बीकानेर 334401

हमारे यहां धर्म और पंथ ऐसे दो शब्द प्रचलित हैं। पंथ को फिरका भी कहते हैं। पंथ का अर्थ क्या है ? अमुक मनुष्य को ही, वह पवित्र है, सिद्ध है, धर्म-संस्थापक है या अवतारी पुरुष है ऐसा मानकर, उसी को स्वीकार कर जो चलता है उसे पंथ कहते हैं। अमुक को ही धर्म-संस्थापक मानने के बाद उसका उपदेश, उसके वचन, या ग्रंथ ही प्रामाणिक हैं, उसका शब्द-शब्द मान्य है, ऐसा पंथ वाले मान बैठते हैं। इस तरह व्यक्ति-निष्ठा और ग्रंथनिष्ठा बनती है। धर्म-संस्थापक सर्वज्ञ है और उसके अनुयायित्व को स्वयं स्वीकार किया है, यह मन में निश्चित होने के बाद उसके चलाए हुए रस्म-रिवाजों को भी स्वीकार करना ही चाहिए, इसको भी मन स्वीकार करता है। इस प्रकार व्यक्तिनिष्ठा, वचननिष्ठा, ग्रंथनिष्ठा और रीति-रिवाजों का आग्रह—ये सारी बातें पंथ में आ जाती हैं।

हमारी व्याख्या के मुताबिक धर्म अमुक किसी संस्थापक व्यक्ति से बंधा हुआ नहीं है। अमुक किसी ग्रंथ से चिपके रहना उसे स्वीकार नहीं है। परंतु सभी धर्म-संस्थापकों, नबियों, पैगंबरों, ऋषि-मुनियों और संत-महंतों को धर्मपुरुषों के तौर पर स्वीकार करता है। वेद, गाथाएं (पारसियों की), उपनिषद, कुरान, बाइबिल (तौरात एवं इंजील) इत्यादि सभी धार्मिक ग्रंथों को वह वंदनीय मानता है। सबसे प्रेरणा पाता है। सबका स्वीकार, इनकार किसी का नहीं, और अपनी हाजत के मुताबिक अपनी साधना निश्चित करने की छूट—यह है धर्म का लक्षण। जो वस्तु जंचती नहीं, उसे तुरंत अमान्य करने की अपेक्षा और उसका विरोध करने के बजाय सच्चा धार्मिक मनुष्य कहेगा कि 'इस वस्तु का कुछ रहस्य तो होगा ही परंतु इस वक्त वह मेरी समझ में नहीं आता। जब इतने बड़े-बड़े और पवित्र लोग ऐसी बातों को मानते हैं, तब उनके प्रति मेरा अनादर कैसे हो सकता है ? फिर भी जब तक वह मुझे जंचती नहीं तब तक उसका स्वीकार भी मैं कैसे करूं ? इसलिए ऐसी बातों में मैं तटस्थ रहना पसंद करता हूं।' धार्मिक मनुष्य कहता है कि निर्णय मुलतवी रखना—यही मेरे लिए शक्य है और यह भी वह कहेगा (यह बात आज सबसे अधिक महत्त्व की है) कि जहां मुझे दो बातों में विरोध मालूम होता है, वहां किसी दिन मैं देख सकूंगा कि शुद्ध और व्यापक दृष्टि से देखने पर विरोध होने पर भी उनमें मेल बैठ सकता है। इस बात को हम समन्वय के तौर पर पहचानते हैं।

——काका कालेलकर

'युगानुकूल हिंदू जीवन दृष्टि' से

आक्रमण के प्रति आक्रमण और शक्ति-प्रयोग के प्रति शक्ति-प्रयोग कर हम हिंसा के प्रयोगात्मक रूप को टालने में सफल हो सकें—यह संभव है। पर वैसा कर हम हृदय को पवित्र कर सकें या करा सकें—यह संभव नहीं। शक्ति के प्रयोग से जीवन की सुरक्षा की जा सकती है, पर वह अहिंसा नहीं है।

अहिंसा का अंकन जीवन या मरण से नहीं होता, उसकी अभिव्यक्ति हृदय की पवित्रता से होती है।

अनाचार करने वाले को समझा-बुझाकर अनाचार से छुड़ाना, यही है अहिंसा का मार्ग। अहिंसा और वध सर्वथा एक नहीं है। अहिंसक के द्वारा भी किंचित अशक्य कोटि का वध हो सकता है, किंतु यदि उसकी प्रवृत्ति संयममय हो तो वह हिंसा नहीं होती। वध को बल-प्रयोग से भी रोका जा सकता है, किंतु वह अहिंसा नहीं होती। अहिंसा तभी होती है जब हिंसा करने वाला समझ-बूझकर उसे छोड़ता है। प्रेरक का काम हिंसक को समझाने का है। अहिंसा के क्षेत्र में वह यहीं तक पहुंच सकता है। हिंसा तो तब छूटेगी जब हिंसा करने वाला उसे छोड़ेगा।

'भिक्षु विचार दर्शन' से

महिलाएं वीरांगनाएं होती हैं। वे अपनी आत्म-शक्ति को क्यों भूल जाती हैं ? अपनी लोक-लाज की रक्षा के लिए जहां उन्होंने हंस-हंस कर अपने प्राणों की आहुतियां दे दी हैं वहां क्या वे अपने जीवन-विकास के लिए आभूषणों और कीमती वस्त्रों का त्याग नहीं कर सकतीं ? वे अपने जीवन को विलास और बनाव-शृंगार से मोड़ कर त्याग और संयम की साधना में लगाएं।

महिलाओं में धर्म के प्रति हार्दिक श्रद्धा है, मैं इसे भूल नहीं रहा हूं। पर तो भी मैं यह महसूस कर रहा हूं कि उनमें वह श्रद्धा कुछ कमजोर बनती जा रही है। आदिकाल से धार्मिक क्षेत्र में महिलाओं का एक गौरवपूर्ण स्थान रहा है। यदि वे उस क्षेत्र में अपना स्थान रखना चाहती हैं, पुरुष समाज को अपने जीवन से प्रेरणा देना चाहती हैं तो उन्हें धर्म के प्रति अपनी श्रद्धा को प्रबलतम बनाना होगा। मैं यह भी नहीं चाहूंगा कि उनमें अंधश्रद्धा ही रहे। वे ज्ञान के क्षेत्र में उन्नति करती हुई श्रद्धा को मजबूत बनाएं। जीवन में तत्त्व-ज्ञान और तत्त्व-चिंतन की प्रकाश-रश्मियों को स्थान दें। समाज और राष्ट्र को उन्होंने बहुत कुछ दिया है और अब भी महिलाओं से आशा है। मुझे विश्वास है कि महिलाएं अपने आध्यात्मिक जीवन को उठाती हुई समाज, राष्ट्र और विश्व के सच्चे कल्याण की ओर अग्रसर होंगी।

——आचार्यश्री तुलसी

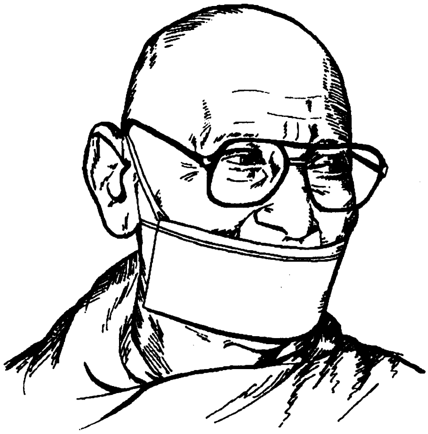

मन का मैल मिटाना बहुत जरूरी है। उसे धोना चाहिए। मन पर मूर्च्छा का मैल, मोह का मैल, ममत्व का मैल, राग-द्वेष का मैल, वासना का मैल, कषाय का मैल, न जाने कितने मैल हैं। इस स्थिति में प्रेक्षा वहां तक पहुंच ही नहीं सकती। अनुप्रेक्षा मन को पवित्र करने का, मन पर जमे मैल को धोने का अनुपम उपाय है।

मन पर मैल तब जमता है जब हम अनित्य को नित्य मानकर चलते हैं। संयोग को शाश्वत और विजातीय को सजातीय मानकर चलते हैं। हम इस बात को सिद्धांत से और व्यवहार से भी जानते हैं कि पदार्थ अनित्य हैं, संयोग अनित्य हैं। जो पदार्थ प्राप्त है, वह अवश्य ही नष्ट होता है। जो संयोग मिला है उसका निश्चित ही वियोग होता है। पदार्थ अनित्य है, पदार्थ का संयोग अनित्य है और पदार्थ विजातीय है। चेतना का गुण-धर्म पदार्थ से भिन्न है। हम इन सब तत्त्वों को जानते हैं, किंतु पदार्थ को नित्य मानकर व्यवहार करते हैं, पदार्थ के संयोग को शाश्वत मानकर चलते हैं और पदार्थ को सजातीय मानते हैं, अपना मानते हैं। हम इसे जानते नहीं, केवल मानते हैं। जानने और मानने में बहुत बड़ा अंतर है। जिस दिन हम मानने की अवस्था को पारकर जानने की स्थिति में पहुंच जाएंगे तब हमारे लिए पदार्थ पदार्थ मात्र होगा और चेतन चेतन होगा। पदार्थ का उपयोग हो सकता है, पदार्थ का संयोग हो सकता है, किंतु पदार्थ शाश्वत नहीं हो सकता, पदार्थ सजातीय नहीं हो सकता, अपना नहीं हो सकता। अशाश्वत को शाश्वत मानने का आरोप, विजातीय को सजातीय मानने का आरोप, केवल मानने के कारण ही होता है। यदि जान लिया जाता है तो सारे आरोप नष्ट हो जाते हैं। जब तक मन पर मोह या मूर्च्छा का मैल जमा रहता है, तब तक व्यक्ति सब कुछ मानता चला जाता है, जानता कुछ भी नहीं है। पदार्थ के मूल स्वरूप को जाने बिना उसे जाना नहीं जा सकता।

—आचार्यश्री महाप्रज्ञ

प्रसंग

यह जो देखते हैं

यह जो दृश्य जगत है, सामान्य रूप से वहीं तक दृष्टि सीमित मानी जाती है और यह जो हम देखते हैं, माना जाता है कि बस यही भर संसार है। यह भी माना जाता है कि ज्ञान का संसार इससे इतर भी है और जिसके ज्ञान-चक्षु प्रवर्द्धमान है वह अदृश्य को भी देख सकता है, यानी उसके बारे में अनुमान लगा सकता है, कोई दिशाबोध उससे मिल सकता है। वास्तविक रूप से वही व्यक्ति ज्ञानशील कहा जा सकता है जिसे बाहरी प्रकाश या कि भौतिक प्रकाश के सहारे की जरूरत नहीं होती।

प्रश्न खड़ा हो सकता है कि तब क्या ऐसे व्यक्ति अंधेरे में भी देख सकते हैं? यदि इसे विनोद अथवा व्यंग्य में न लिया जाए कि अंधेरे में तो 'उल्लू' देखते हैं, तो इसका उत्तर 'हां' ही होगा। अंधेरे में देखना अथवा अंधेरे को देखना एक ही सिक्के के दो पहलू कहे जा सकते हैं। भविष्य के बारे में सही-सही अनुमान लगा लेना या कि जिसकी भविष्यवाणी सदा सत्य की कसौटी पर खरी ही उतरती है, क्या उसे अंधेरे में देखना अथवा अंधेरे को देखने जैसा नहीं कहेंगे? राजनीति के क्षेत्र में ऐसी भविष्य-वाणियों से हमारा साबका अक्सर पड़ता रहता है और यह भी हम सुनते रहते हैं कि इस तरह की भविष्यवाणियों के सच हो जाने पर ऐसे व्यक्तियों का मोल राजनीति के बाजार में काफी ऊंचा हो जाता है। आजकल तो ऐसी भविष्यवाणियों के आकलन कुछ नुस्खानुमा या 'फार्मूला' आधार पर भी होने लगे हैं। बेशक ऐसे आकलनों पर 'धूल में लट्ठ मारने' या कि 'हवा में लाठियां भांजने' जैसी प्रतिक्रियाएं भी होती रही हैं।

लेकिन यहां हम इस प्रकार की बात नहीं करना चाहते हैं। इस तरह के आकलन सूचनाओं और कुछ आंकड़ों का रोचक तोड़-मरोड़ या यह भी कह सकते हैं कि थोड़ा गंभीर विश्लेषण भर होता है। ज्ञान के प्रवर्द्धमान स्तर की कोई ऐसी बात इन भविष्यवाणियों में परिलक्षित नहीं होती।

हम सभी के पास ये जो दो बाह्य चक्षु हैं—जो दृश्यमान जगत को देखते हैं, इनके साथ हर व्यक्ति के पास 'अन्तःचक्षु' भी होते हैं, पर इनकी पलकें कब और कैसे खुलें—यह एक सवाल है। हमारे बाह्य चक्षुओं को लेकर अक्सर समाज और राज में चिंता होती रहती है। बढ़ते हुए अंधेपन को लेकर विश्वव्यापी चिंता से भी हम अवगत हैं। लेकिन अन्तःचक्षु के कपाट कैसे खुलें—ऐसी चर्चा करने वालों की संख्या अंगुलियों पर गिनने जितनी भर है।

तब यह सवाल भी यहां उठाया जा सकता है कि 'अन्तःचक्षु' अथवा 'ज्ञान-चक्षु' हर किसी के खुल जाने क्यों जरूरी हैं? सवाल तो यह भी है कि हर किसी में यह हो जाना क्या संभव है? दूसरे सवाल को विराम देते हुए एक बार पहले सवाल पर चर्चा की जाए।

जिस विषमता से समाज विगलित है, असमानता का अभिशाप जोंक की तरह से समाज की काया का खून चूस रहा है, विग्रह और वैमनस्य के कस जिसके कारण ढीले नहीं पड़ रहे हैं—'अन्तःचक्षु क्यों खुल जाने जरूरी हैं'—इस सवाल का उत्तर उपरोक्त कारण हैं। बेशक हर किसी में हो जाना यह संभव नहीं प्रतीत होता, पर इसकी जरूरत क्यों है—इसे समझना कठिन नहीं है। यहां यह भी स्पष्ट हो जाना जरूरी है कि प्रवर्द्धमान ज्ञान-चक्षु के पृथक-पृथक स्तर होते हैं और जैसा कि भगवान महावीर ने देखने के नजरिए पर दृष्टिपात करते हुए स्पष्ट किया है कि देखने के दो दृष्टिकोण होते हैं—एक है व्यवहारनय की दृष्टि और दूसरी है निश्चयनय की दृष्टि। आचार्यश्री महाप्रज्ञजी भगवान महावीर के देखने की इन दो दृष्टियों का विश्लेषण करते हुए बताते हैं कि—'एक द्रव्यार्थिक दृष्टि है और एक पर्यायार्थिक दृष्टि है। पर्याय की दृष्टि का अर्थ है व्यवहारनय। पर्याय बदलते रहते हैं, अवस्थाएं बदली रहती हैं। यह भी एक सचाई है। हम इसे मिथ्या न मानें। व्यवहार भी सचाई है और निश्चय भी सचाई है। संसार का सबसे बड़ा झूठ है एकांगी दृष्टिकोण।' आचार्यश्री महाप्रज्ञजी कहते हैं—'महावीर ने दोनों में संगति बिठाई।' वे कहते हैं—'दुनिया व्यवहार से चलती है। साधक का जीवन भी व्यवहार से चलता है।'

आचार्यश्री महाप्रज्ञजी स्वयं ही सवाल खड़ा करते हैं। कहते हैं—'समाज और समूह में रहते हुए भी अकेला कैसे रहा जा सकता है?' वे स्वयं ही उत्तर देते हैं। बताते हैं—'जीवन-यात्रा में समाज को कभी भी छोड़ा नहीं जा सकता। न बुद्ध ने समाज को छोड़ा, न महावीर ने छोड़ा और न शंकर ने छोड़ा। सभी साधक समाज से संपृक्त रहे हैं, समाज के बीच रहे हैं, पर वे अकेले बन कर रहे हैं।' इसी बात को आगे बढ़ाते हुए आचार्यश्री महाप्रज्ञजी कहते हैं—'यह सूत्र उसी व्यक्ति को प्राप्त होता है जो निश्चय और व्यवहार दोनों दृष्टियों से सोचता है, देखता है। यह सही है कि सामुदायिक जीवन जीने वाला व्यक्ति अनेक अवस्थाओं से गुजरता है। उसे कभी उच्च अवस्था और कभी अवच अवस्था से गुजरना होता है। अनेक प्रकार के व्यक्ति, अनेक प्रकार की रुचियां, अनेक प्रकार के आचरण और व्यवहार—इन सबसे उसका संपर्क होता है। इस स्थिति में अपना संतुलन बनाए रखना, एक महत्त्वपूर्ण बात है।'

प्रवर्द्धमान ज्ञान-चक्षु प्राथमिक स्तर पर या कि लौकिक स्तर पर ऐसा संतुलन बिठाने में सहायक होता है। ऐसा संतुलन ही सामाजिक विषमता, विग्रह और वैमनस्य को कम कर सकता है। आचार्यश्री महाप्रज्ञजी चक्षु की निर्मलता को समाज-परिवर्तन की पहली आवश्यकता मानते हैं। वे इसके लिए तीन सूत्र देते हैं—(1) सत्य निष्ठा, (2) शांतिपूर्ण जीवन और (3) करुणा। आचार्यश्री महाप्रज्ञजी 'साधना' को भी नया अर्थ देते हैं। वे कहते हैं—'साधना का अर्थ है—दिशा-परिवर्तन।' वे आगे कहते हैं—'सिद्धांत हमें कहीं नहीं पहुंचा सकता। हमें प्रयोगों से गुजरना होगा। परिवर्तन के लिए सिद्धांत ही नहीं—प्रयोग की आवश्यकता है। हम सिद्धांत और प्रयोग दोनों का समन्वय कर दिशा-परिवर्तन कर सकते हैं।'

ज्ञान का संसार बेशक दृश्य जगत से इतर है और हर किसी के लिए ज्ञान के उस सत्य को देख पाना मुमकिन प्रतीत नहीं होता, पर व्यवहारनय और निश्चयनय की दृष्टि को यदि हम समझ लें और सिद्धांत व प्रयोग के समन्वय को अपने मार्ग का आधार मान लें तब हमें किसी बाहरी प्रकाश से अपना मार्ग प्रशस्त करने की जरूरत नहीं पड़ेगी, हमारे अन्तःचक्षु ही अंधेरे में किसी प्रकाश की लौ को तलाश लेंगे—दिशा-परिवर्तन उसी लौ में से निकलेगा। हमें उस लौ को पकड़ने के प्रयोग करने चाहिए।

—शुभू पटवा

विमर्श

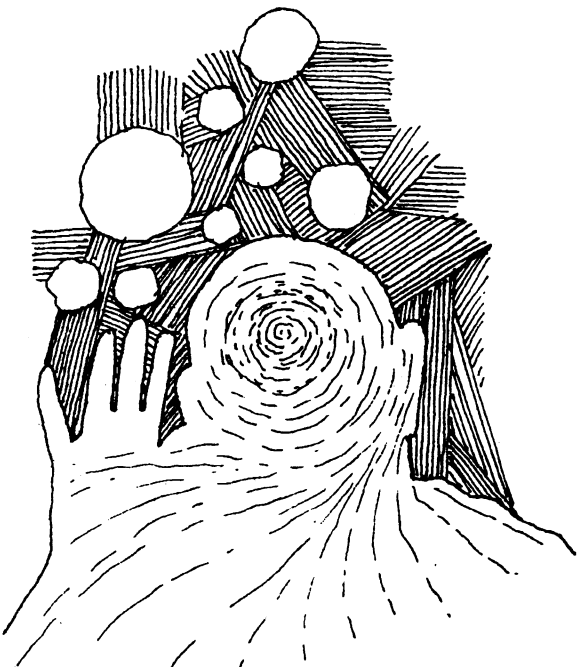

'विज्ञान और आध्यात्मिकता से संबंध रखने वाले प्रश्न का पहले कुछ महत्त्व रहा होगा— बीसवीं शताब्दी के प्रारंभिक वर्षों में यह मनुष्यों के मन में भरा हुआ था—पर अब इसका कोई अर्थ नहीं है। विज्ञान स्वयं इस निर्णय पर पहुंच गया है कि वह यह निश्चय नहीं कर सकता कि वस्तुओं का सत्य क्या है अथवा उनका यथार्थ स्वभाव क्या है अथवा भौतिक व्यापार के पीछे क्या है; वह केवल भौतिक वस्तुओं की प्रक्रिया को देख सकता है अथवा यह जान सकता है कि वे कैसे घटित होती हैं अथवा किस ढंग से मनुष्य उनके साथ संबंध रख सकते और उनका उपयोग कर सकते हैं। दूसरे शब्दों में, भौतिक विज्ञान का क्षेत्र अब निश्चित रूप से निर्धारित तथा सीमित हो गया है और भगवान या चरम सद्वस्तु अथवा आध्यात्मिक समस्याओं से संबंधित प्रश्न उसके क्षेत्र से बाहर हैं।

नाममात्र के वे विज्ञान, जो मन और मनुष्यों के विषय में (मनोविज्ञान इत्यादि) खोज करते हैं, भौतिक विज्ञान पर इतना अधिक निर्भर करते हैं कि वे संकीर्ण सीमाओं के परे नहीं जा सकते। यदि विज्ञान को भगवान की ओर मुंह मोड़ना हो तो उसे एक नवीन विज्ञान बनना होगा जो अभी तक विकसित नहीं हुआ है और जो सीधे प्राणजगत या मानसजगत की शक्तियों के विषय में संलग्न रहता है और इस प्रकार उस वस्तु पर पहुंच जाता है जो मन से परे है; परंतु आधुनिक विज्ञान ऐसा नहीं कर सकता।'

—श्री अरविन्द

आत्म-नियंत्रण से कषाय-मुक्ति

आचार्यश्री महाप्रज्ञ

धर्म और दर्शन का जैसा घनीभूत प्रभाव भारतीय मन पर दिखाई देता है, वैसा अन्यत्र कहीं प्रतीत नहीं होता। जब भी धर्म की चर्चा होती है तो एक बात निर्विवाद कही जाती है कि व्यक्ति उसके माध्यम से परमतत्त्व-आत्मा तक पहुंचना चाहता है। यह परमतत्त्व-आत्मा क्या है, इस तक पहुंचने का मार्ग क्या हो सकता है ? आचार्यश्री महाप्रज्ञजी इसके लिए किसी धार्मिक-अनुष्ठान, किसी मत-पंथ अथवा कर्म-कांड की बात नहीं करते हुए कषायों को मंद करने की बात करते हैं। कषाय क्या हैं, कौन-सी वह साधना है जिसके द्वारा कषायों को मंद किया जा सकता है ? प्रस्तुत है आचार्यश्री महाप्रज्ञजी का यह गवेषणात्मक आलेख—

हमारा शरीर एक दर्पण है। इस दर्पण में मन के भाव प्रतिबिंबित होते रहते हैं। हम भावों को देखकर अदृश्य को भी देख लेते हैं। जो दूर है उसे भी पहचान लेते हैं। जहां तक हमारी पहुंच नहीं होती, इस दर्पण के प्रतिबिंबों के द्वारा वहां तक पहुंच जाते हैं। जब देखते हैं आंखों में एक भाव तैरता है, आंख को देखते हैं और भाव तक पहुंच जाते हैं। जब देखते हैं कि आंख में से कुछ टपक रहा है, हम प्रियता के भाव तक पहुंच जाते हैं। आंखों में देखते हैं, आकृति में देखते हैं। यह समूची आकृति कितना स्वच्छ दर्पण है कि उसमें भीतर का सब कुछ प्रतिबिंबित हो जाता है। यदि यह आकृति नहीं होती तो शायद भावों को जानने का हमारे पास कोई माध्यम नहीं होता। आकृति को देखकर जान जाते हैं कि आदमी क्रुद्ध है। आकृति को देखकर जान जाते हैं कि आदमी क्षमारत है, सहिष्णु है। क्रोध और क्षमा—दोनों हमारे सामने प्रकट नहीं होते। क्योंकि सहिष्णुता और क्रोध—दोनों इस शरीर के धर्म नहीं हैं। वे जहां जन्म लेते हैं और प्रकट होते हैं, उनका स्थान कोई दूसरा है। हमारे सारे भाव सूक्ष्म जगत में जन्म लेते हैं और इस स्थूल शरीर में प्रतिबिंबित होते हैं। एक है हमारा प्रतिबिंब का जगत या प्रतिबिंबों को पकड़ने का जगत और दूसरा है हमारे भावों के जन्म लेने का जगत। हमारी यात्रा स्थूल से सूक्ष्म की ओर होती है। स्थूल को छोड़ते हैं तब सूक्ष्म की ओर यात्रा शुरू करते हैं। हम स्थूल शरीर को छोड़कर भाव-शरीर तक पहुंच जाते हैं। लेश्या तक पहुंच जाते हैं। लेश्या से भी आगे यात्रा शुरू करते हैं तो अध्यवसाय तक पहुंच जाते हैं। अध्यवसाय से आगे यात्रा शुरू करते हैं तो कषाय तक पहुंच जाते हैं। कषाय से आगे यात्रा शुरू करते हैं तो परमतत्त्व—आत्मा तक पहुंच जाते हैं।

कषाय या अतिसूक्ष्म शरीर में केवल स्पंदन हैं, कोरी तरंगें। वहां भाव नहीं हैं, कोरी तरंगें हैं। वहां चेतना के स्पंदन भी हैं और कषाय के स्पंदन भी हैं। दोनों स्पंदन हैं। दोनों महासागर हैं। एक है चैतन्य का महासागर और एक है कषाय का महासागर। दोनों में स्पंदन ही स्पंदन हैं, तरंगें ही तरंगें हैं। वे तरंगें बाहर आती हैं। वे अध्यवसाय तक पहुंचती हैं, तब भी तरंगें, केवल स्पंदन। अध्यवसाय का मतलब ही है कि सूक्ष्म चैतन्य का स्पंदन। सूक्ष्म इसलिए कि उसका कोई केंद्र-विशेष नहीं है। शरीर में उसका कोई विशेष केंद्र नहीं है। वे अपने सूक्ष्म रूप में स्पंदन ही स्पंदन हैं। अध्यवसाय में हम देखेंगे तो क्रोध की तरंग होगी, क्रोध का भाव नहीं होगा। परम शरीर में, सूक्ष्म शरीर में क्रोध की तरंगें होंगी, क्रोध का भाव नहीं होगा। वहां तक कोरी तरंगें होती हैं। वे तरंगें जब सघन होकर भाव का रूप लेती हैं, वे लेश्या बन जाती हैं। लेश्या में पहुंचकर भाव बनता है और तरंगें ठोस रूप ले लेती हैं। शक्ति, ऊर्जा पदार्थ में बदल जाती है। तरंग का सघन रूप भाव और भाव का सघन रूप क्रिया। जब भाव सघन बनता है तो वह क्रिया बन जाती है और हमारे स्थूल शरीर में प्रकट होती है और हमें दिखने लग जाती है। हम क्रिया को देखते हैं। क्रोध की क्रिया को देखते हैं, क्रोध के लक्षणों को देखते हैं,

क्रोध के चिह्नों को देखते हैं, क्षमा के चिह्नों को देखते हैं, क्षमा के लक्षणों को देखते हैं। उन चिह्नों के सहारे आगे यात्रा शुरू करते हैं। स्थूल से सूक्ष्म की ओर, तब पहले भाव-तंत्र तक पहुंचते हैं, लेश्या-तंत्र तक पहुंचते हैं और फिर तरंगों के जगत में जाते हैं तो अध्यवसाय आता है और फिर कषाय-तंत्र आता है और फिर उस चैतन्य के स्पंदन तक भी पहुंच जाते हैं, जहां से चैतन्य के स्पंदन उद्भूत होते हैं। बहुत बड़ा प्रश्न है। एक चैतन्य का महासागर है। उससे बाहर आते हैं तो कषाय का महासागर मिलता है, जहां से सारी मलिनता बाहर आ रही है। किंतु चैतन्य तो मलिन नहीं है, वह तो शुद्ध है, फिर यह अशुद्धता क्यों ? कारण स्पष्ट है। उस चैतन्य महासागर के चारों ओर एक वलय है—कषाय के महासागर का। एक प्रश्न और होता है कि कषाय का महासागर जब चैतन्य के महासागर को घेरे हुए है तो फिर शुद्धि का प्रश्न ही कहां उठता है ? जो कुछ बाहर आएगा वह सारा अशुद्ध ही होगा। शुद्ध-लेश्या कैसे होगी ? शुद्ध-भाव कैसे होगा ? शुद्ध-अध्यवसाय कैसे होगा ? कषाय से छनकर और कषाय के रस के साथ मिलकर जो कुछ भी बाहर आएगा, वह मलिन, अपवित्र और अशुद्ध ही आएगा। शुद्ध कैसे होगा ? लेश्या की शुद्धि अध्यवसाय से होती है और अध्यवसाय की शुद्धि मंद कषाय से होती है। लेश्या हमारा भाव है। यदि अध्यवसाय शुद्ध न हो तो वह कभी शुद्ध नहीं हो सकता। अध्यवसाय कभी शुद्ध नहीं होता, यदि कषाय के महासागर का वलय चैतन्य के स्पंदनों को जाने के लिए रास्ता न छोड़ दे। कषाय मंद होता है, इसका अर्थ होता है कि कषाय-महासागर चैतन्य की रश्मियों को बाहर जाने का रास्ता करता है। चैतन्य की रश्मियां उसी रास्ते से बाहर जाती हैं जहां कषाय के तीव्र अनुभवों का स्पर्श नहीं होता। उस रास्ते से वे चैतन्य की शुद्ध रश्मियां बाहर आ जाती हैं और ये शुद्ध धाराएं शुद्ध-अध्यवसाय का निर्माण करती हैं। शुद्ध-अध्यवसाय शुद्ध-भावों का निर्माण करते हैं और शुद्ध-भाव विचारों को शुद्ध बनाते हैं—मन, वचन और काया को शुद्ध बनाते हैं।

शुद्ध और अशुद्ध होने के दो कारण बन गए। शुद्ध होने का कारण है कषाय की मंदता और अशुद्ध होने का कारण है कषाय की तीव्रता।

प्रश्न होता है कि कषाय की मंदता कैसे हो ? इसका एकमात्र उपाय है साधना। जो व्यक्ति साधना करता है वह व्यक्ति कषाय को मंद करने का उपक्रम करता है। साधना ज्यों-ज्यों आगे बढ़ती है कषाय का मजबूत मोर्चा शिथिल होने लगता है, निष्क्रिय होने लगता है। साधना का मूल प्रयोजन है—कषाय को मंद करना, कषाय की शक्ति को क्षीण करना, चैतन्य की पवित्र धारा में मिल जाने वाले कषाय के अपवित्र जल को निकाल देना जिससे कि वह शुद्ध बन जाए, पवित्र बन जाए। पवित्र शब्द भी समाप्त हो जाए और अपवित्र शब्द भी समाप्त हो जाए, चैतन्य वैसा का वैसा रह जाए। क्योंकि जब अपवित्र होता है तब पवित्र करने की बात उपस्थित होती है। वास्तव में चैतन्य न अपवित्र है और न पवित्र। वह तो एक प्रकाश है, आलोक है, ज्योति है। वह जैसा है वैसा है। उसके लिए पवित्र या अपवित्र विशेषण लगाने की जरूरत नहीं है। विशेषण इसलिए लगाना पड़ता है कि कषाय के द्वारा जब चैतन्य की धारा अपवित्र हो जाती है, मलिन हो जाती है तो उसकी सापेक्षता में चैतन्य को पवित्र कहना पड़ता है। किंतु हम साधना के द्वारा उस स्थिति का निर्माण करना चाहते हैं कि चैतन्य कोरा चैतन्य ही रहे। यह पवित्र और अपवित्र विशेषण उससे विलग हो जाए।

वह साधना क्या है जिसके द्वारा कषाय को मंद किया जा सकता है ? यह एक प्रश्न है। इस पर हम सोचेंगे तो यह स्पष्ट प्रतिभासित होगा कि अध्यात्म का समूचा तंत्र, अध्यात्म का समूचा उपदेश और धर्म की सारी गाथाएं कषाय को मंद करने के लिए कही गई हैं। उनका एक मात्र प्रयोजन भी यही है। अपरिग्रह, अंहिसा, सत्य, ब्रह्मचर्य, क्षमा, संतोष, दान, शील—इन सबका उपदेश इसीलिए है कि कषाय मंद हो। उपदेश और उपदेश का अगला चरण है—अभ्यास। यह सबने जान लिया कि कषाय को मंद करने के लिए आत्म-नियंत्रण जरूरी है, अभ्यास जरूरी है, फिर प्रश्न होता है कि अभ्यास कहां से प्रारंभ करें ? सबसे पहले क्या करें ? इस प्रश्न पर धर्म और अध्यात्म के क्षेत्र में चर्चाएं हुई हैं तो मनोविज्ञान ने भी इस

अध्यात्म का समूचा तंत्र, अध्यात्म का समूचा उपदेश और धर्म की सारी गाथाएं कषाय को मंद करने के लिए कही गई हैं। उनका एक मात्र प्रयोजन भी यही है। अपरिग्रह, अंहिसा, सत्य, ब्रह्मचर्य, क्षमा, संतोष, दान, शील—इन सबका उपदेश इसीलिए है कि कषाय मंद हो। उपदेश और उपदेश का अगला चरण है—अभ्यास। यह सबने जान लिया कि कषाय को मंद करने के लिए आत्म-नियंत्रण जरूरी है, अभ्यास जरूरी है, फिर प्रश्न होता है कि अभ्यास कहां से प्रारंभ करें ? सबसे पहले क्या करें ? इस प्रश्न पर धर्म और अध्यात्म के क्षेत्र में चर्चाएं हुई हैं तो मनोविज्ञान ने भी इस प्रश्न पर विचार किया है। दोनों विचारधाराओं की चर्चा कुछ मिलती-जुलती-सी है। अनेक दार्शनिकों ने इस प्रश्न पर चिंतन किया है।

प्रश्न पर विचार किया है। दोनों विचारधाराओं की चर्चा कुछ मिलती-जुलती-सी है। अनेक दार्शनिकों ने इस प्रश्न पर चिंतन किया है। मैं वर्तमान के चिंतन को पहले प्रस्तुत कर, बाद में अतीत के चिंतन को प्रस्तुत करना चाहूंगा।

टालस्टाय ने इस प्रश्न का सुंदर समाधान दिया। उन्होंने कहा—'अच्छे जीवन की पहली शर्त है—आत्म-नियंत्रण और आत्म-नियंत्रण की पहली शर्त है—उपवास। हमें आत्म-नियंत्रण का अभ्यास उपवास से शुरू करना चाहिए।' यह है एक महर्षि का चिंतन, जो वर्तमान युग का साधक, साधु या महर्षि कहलाता था।

अब हम प्राचीन चिंतन को लें। भगवान महावीर ने तपस्या के बारह प्रकार बतलाए। उन्होंने कहा—'आत्म-नियंत्रण का प्रारंभ तपस्या से करो, अनशन से शुरू करो।' प्राचीन चिंतन और वर्तमान चिंतन—दोनों एक बिंदु पर मिल गए। दोनों के कथन में पूर्ण साम्य है। यह यथार्थ है। जो भी आत्मा का अनुभव करने वाले साधक हैं वे दो मार्ग या दो लक्ष्य पर नहीं पहुंचते। संप्रदायों के विचार दो दिशाओं में पहुंच सकते हैं, दो दिशागामी हो सकते हैं, किंतु अध्यात्म के विचार दो दिशागामी नहीं हो सकते। अध्यात्म को बांटा नहीं जा सकता। अध्यात्म के मार्ग से जो पहुंचेगा वह एक ही बिंदु पर पहुंचेगा।

भगवान महावीर ने कहा—'अनशन से आत्म-नियंत्रण शुरू करो। आत्मा के नियंत्रण में सबसे बड़ी बाधा है भोजन। भोजन सुस्ती लाता है।' टालस्टाय ने कहा—'जो भोजन का संयम नहीं करता वह सुस्ती को कैसे मिटा सकेगा ? जो आलस्य, सुस्ती और प्रमाद को नहीं मिटा पाता, वह आत्म-नियंत्रण कैसे कर पाएगा।' उन्होंने कहा—'हमारी कुछ मौलिक इच्छाएं होती हैं। यदि हम उन इच्छाओं को समाप्त नहीं कर सकते तो उन इच्छाओं के आधार पर पलने वाली दूसरी जटिल इच्छाओं को कभी समाप्त नहीं कर सकते। जीने की कामना, भोजन की कामना, काम की कामना और लड़ने की कामना—ये मौलिक इच्छाएं हैं। सभी प्राणियों में ये बनी रहती हैं। यदि इन पर नियंत्रण नहीं पाया गया तो इनके आधार पर पलने वाली अन्य जटिल इच्छाओं पर कभी नियंत्रण नहीं पाया जा सकता। इसलिए यह आवश्यक है कि साधक सबसे पहले मौलिक इच्छाओं पर विजय प्राप्त करे, उन पर नियंत्रण करे।'

मौलिक इच्छाओं में पहली है भोजन की इच्छा। यह बहुत ही महत्त्वपूर्ण इच्छा है, क्योंकि हमारे सारे शरीर की क्रियाएं भोजन के द्वारा संचालित होती हैं। हमारी प्राण-ऊर्जा भोजन से बनती है। हम जो खाते हैं, उसका एक रसायन बनता है और वह रसायन हमारे जीवन की प्राण-ऊर्जा बनकर शरीर-तंत्र का संचालन करता है। हमारे शरीर में दो महत्त्वपूर्ण केंद्र हैं—तेजस्-केंद्र और शक्ति-केंद्र। तेजस्-केंद्र वह है जो खाए हुए भोजन को प्राण की ऊर्जा में बदल देता है। शक्ति-केंद्र वह है जो प्राण की ऊर्जा का स्रोत है, संग्रह-स्थान है। एक ऊर्जा को पैदा करने का स्थान है और एक ऊर्जा का संग्रह-स्थान है। हम जो-कुछ भोजन करते हैं, उसका रसायन बनता है और वह प्राणशक्ति के रूप में बदलता है और उसका सहयोग करता है। जैसा खाते हैं वैसा रसायन बनता है। अब प्रश्न होता है कि कैसा खाएं ? क्या खाएं ? कितना खाएं ? इन प्रश्नों की चर्चा मैं प्रस्तुत प्रसंग में नहीं करूंगा।

इस सारे चिंतन से एक महत्त्व का सूत्र उपलब्ध हुआ कि हम आत्म-नियंत्रण का अभ्यास उपवास से शुरू करें, अनशन से शुरू करें, कम खाने से करें और खाने की वृत्तियों को संक्षेप करके करें और हमारी वृत्तियों को उभारने वाले रसों के संयम के द्वारा करें—उपवास द्वारा करें। यह आत्म-नियंत्रण का पहला सूत्र है।

आत्म-नियंत्रण का दूसरा सूत्र है—शरीर। हम शरीर को साधें यह बहुत आवश्यक है। जब तक स्नायुओं को नया अभ्यास नहीं दिया जाता, स्नायुओं को नई आदत के निर्माण का अभ्यास नहीं दिया जाता तब तक व्यक्तित्व का निर्माण नहीं किया जा सकता। विलियम जेम्स ने अपनी पुस्तक 'दि प्रिन्सिपल ऑफ साइकोलॉजी' में मनोवैज्ञानिक ढंग से चर्चा करते हुए लिखा है—'अच्छा जीवन जीने के लिए अच्छी आदतों का बनाना जरूरी है और अच्छी आदतों के निर्माण के लिए अभ्यास जरूरी है। यदि हम अभ्यास किए बिना ही यह चाहें कि हमारी आदतें बदल जाएं तो ऐसा कभी नहीं होगा। असफलता ही हाथ लगेगी।' अच्छी आदतों के निर्माण के लिए कुछ सूत्र हैं—

1 अच्छी आदतें डालनी हों तो सबसे पहले अच्छी आदतों का चिंतन करो, अभ्यास करो और पुरानी बुरी आदतों को रोको।

2. अच्छी आदतें डालने के लिए शरीर को एक विशेष प्रकार का अभ्यास दो, क्योंकि शरीर की विशेष स्थिति का निर्माण किए बिना हमारी आदतें अच्छी नहीं हो सकतीं। स्नायुओं को हमने जो पहले से आदतें दे रखी हैं, उनको यदि हम नहीं बदलते तो वे एक चक्र की भांति चलती रहती हैं। ठीक समय आता है और मिठाई खाने की बात याद आ जाती

है, क्योंकि हमने जीभ को एक आदत दे रखी है। ठीक समय आता है और स्नायु उस वस्तु की मांग कर लेते हैं। खाने की, सोचने की, विचार करने की, कार्य करने की जैसी आदत हम स्नायुओं में डाल देते हैं, वैसी आदत हो जाती है। जो लोग बहुत ऊंचे मकानों में रहते हैं, वे पहली बार जब सीढ़ियों से उतरते हैं तब बहुत सावधानी से उतरते हैं। दूसरी-तीसरी बार उतरते हैं तो सावधानी कम हो जाती है और जब सौवीं बार उतरते हैं तो कोई सावधानी की जरूरत नहीं होती। पैर अपने आप एक-एक सीढ़ी उतरते हुए नीचे आ जाते हैं। चलने के साथ मन को जोड़ने की वहां आवश्यकता नहीं होती। टाइप करने वाले प्रारंभ में अक्षरों को देख-देख कर टाइप करना सीखते हैं। जब वे अभ्यस्त हो जाते हैं, तब उनकी अंगुलियां अभीष्ट अक्षरों पर पड़ती हैं और जैसा चाहा वैसा टाइप हो जाता है। फिर 'की बोर्ड' को देखने की आवश्यकता नहीं होती, क्योंकि अंगुलियां अभ्यस्त हो चुकी हैं। हम स्नायुओं को जैसी आदत देते हैं, वे अपने आप काम करने लग जाते हैं। उस काम की संपूर्ति में मन की संपृक्ति आवश्यक नहीं होती।

इसी प्रसंग में उन्होंने यह भी कहा—जब आदत डालो तो कोई अपवाद मत रखो, छूट मत रखो। पूरी आदत बना दो। आज ध्यान किया। स्नायुओं को ध्यान की आदत दी। कल छोड़ दिया। परसों छोड़ दिया। चौथे दिन फिर ध्यान में बैठे। इस प्रकार छूट देने से वह आदत नहीं बनती। छूट मत दो। प्रतिदिन वह कार्य करते रहो। भगवान महावीर ने कहा—प्रतिक्रमण करना है तो वह यथासमय करना ही है। ऐसा नहीं कि आज किया, कल छोड़ा, परसों छोड़ा और फिर चौथे दिन किया। ऐसा करने पर प्रतिक्रमण की आदत कभी नहीं बनेगी। आज क्षमा करें, सहिष्णुता का भाव दिखाएं और कल फिर लड़ाई करें, फिर क्षमा करें तो क्षमा की आदत नहीं बनेगी। आदत डालनी है तो कोई अपवाद मत रखो, जब तक कि वह आदत न बन जाए। वह स्वभाव न बन जाए तब तक कोई अपवाद मत रखो। यह है हमारा कायक्लेश का सूत्र। कायक्लेश का सूत्र है कि आसन, प्राणायाम, कायोत्सर्ग आदि क्रियाओं द्वारा शरीर को इतना साध लो, जिससे कि वह वही कार्य करे जिसका तुम उसे निर्देश दो। यह है आत्म-नियंत्रण का दूसरा सूत्र—शरीर को साधना।

3. आत्म-नियंत्रण का तीसरा सूत्र है—प्रतिसंलीनता। इसका अर्थ है—जो कुछ हो रहा है वह न होने दें, किंतु उसे उलट दें। दो क्रम चलते हैं। एक है प्राकृतिक क्रम और एक है साधना का क्रम। एक प्राकृतिक क्रम है—हमें कुछ विशेष अवयव उपलब्ध हैं। एक है शक्ति-केंद्र—सारी काम की चेष्टाएं इस केंद्र से संचालित होती हैं। सारी काम की वृत्तियां यहां उभरती हैं और मनुष्य इसके सहारे अपनी काम-वासना पूरी करता है। यह प्रकृति द्वारा प्रदत्त संस्थान है काम-वासना की पूर्ति के लिए। प्रतिसंलीनता के द्वारा हम इसे बदल सकते हैं।

आचारांग में एक महत्त्वपूर्ण तथ्य प्रतिपादित है कि जो आस्रव हैं, वे ही परिस्रव हैं और जो परिस्रव हैं, वे ही आस्रव हैं। जो कर्मबंध के कारण हैं, वे ही कर्ममुक्ति के कारण हैं और जो कर्ममुक्ति के कारण हैं, वे ही कर्मबंध के कारण हैं। जो काम-वासना का संस्थान है, वही ब्रह्मचर्य का संस्थान है। कोई अलग से संस्थान नहीं है। हम अपनी साधना के द्वारा, ऐसे प्रयोगों के द्वारा इस काम-वासना के संस्थान को ब्रह्मचर्य की शक्ति के संस्थान के रूप में बदल सकते हैं। यह इंद्रिय प्रतिसंलीनता है। जो इंद्रियां जिस काम के लिए शरीर-रचना में प्राप्त हैं, साधना के द्वारा उनकी आदतों को बदल दें। यह प्रतिसंलीनता का अभ्यास है।

आंख का काम है—रूप को देखना। उसके साथ जुड़ा हुआ है प्रियता और अप्रियता का भाव। सहज जुड़ा हुआ है। आदमी आंख के द्वारा दो ही दृष्टियों से देखना जानता है। या तो वह प्रियता से देखेगा या अप्रियता से देखेगा। यदि हम इंद्रिय-प्रतिसंलीनता का अभ्यास करते हैं तो साधना के द्वारा इन इंद्रियों के स्रोत को बदल देते हैं। फिर आंख से देखेंगे, पर उसके साथ न प्रियता होगी और न अप्रियता होगी। मध्यस्थ भाव, समता भाव रहेगा।

कषायों की प्रतिसंलीनता भी होती है। कषाय चार हैं—क्रोध, मान, माया और लोभ। ये चारों हमारे मस्तिष्क के विशेष केंद्रों द्वारा बाहर आते हैं, प्रकट होते हैं। यह प्रकृति है, स्वभाव है।

एक छोटा बच्चा अपने पिता के साथ दर्शन करने आया। उसने अपने पिता से कहा—'जो पुस्तक और कापी खरीद कर लाए हैं, उस पर मेरा नाम लिख दें।' पिता ने कहा—'नाम लिखने की क्या जरूरत है ? ऐसे ही इनका उपयोग करो।' बच्चे ने आग्रह किया, पर पिता ने नाम नहीं लिखा। बच्चा गुस्से में आ गया। वह हाथ-पैर पटकने लगा। पिता को एड़ियों से मारने लगा। यह देखकर मैं हैरान रह गया। इतना छोटा बच्चा और इतना तेज गुस्सा ! यह प्रकृति का अनुदान है। यह हमारे जन्म के साथ भीतर से आने वाला अनुदान है। इसके लिए साधना करने की जरूरत नहीं, यह स्वयं प्राप्त होता है। क्रोध आना स्वाभाविक है। यह प्रकृति का अनुदान है। इसमें आश्चर्य नहीं होता।

साधना के द्वारा जब हम प्रतिसंलीनता करते हैं तब उन संस्थानों को बदल डालते हैं, प्रतिसंलीन कर डालते हैं। यह है हमारी साधना की उपलब्धि। यह तब हो सकती है जब क्रोध आदि को उभारने वाले निमित्तों से बचा जाए। कुछ लोग कहते हैं—'निमित्तों से बचने की क्या जरूरत है ? कोई जरूरत नहीं है। अपने अंतर में वैराग्य होना चाहिए। व्यवहार की भूमिका की हमें जरूरत क्या है ? हमें तो निश्चय की भूमिका पर चलना चाहिए।' मैं मानता हूं कि ऐसा करने वाले सामान्य जनता के साथ अन्याय करते हैं और उन्हें गलत रास्ते पर ले जाते हैं। जब निमित्तों के प्रति हम जागरूक नहीं होंगे और निमित्तों से नहीं बचेंगे तो कषाय को कभी नहीं छोड़ा जा सकेगा। कषाय के रास्ते को नहीं बदला जा सकता। कषाय मंद तभी हो सकते हैं जबकि हम कषाय को उत्तेजित करने वाले पदार्थों से भी बचें।

पास में कोई व्यक्ति एक करोड़ रुपया रखकर कहे कि मुझे संतोष है। कोई लोभ नहीं है, ममत्व नहीं है। पड़ा है, मेरा क्या लिया। मैं समझता हूं, इसके पीछे शत-प्रतिशत वंचना है। एकाध व्यक्ति लाखों में कोई अपवादस्वरूप निकल सकता है। अन्यथा धोखा ही धोखा है। बाह्य संबंधों से हम मुक्त नहीं हो सकते और कषाय को मंद करने की बात सोचते हैं तो बड़ा धोखा होता है। जो व्यक्ति कषाय को मंद करना चाहता है, उसे कषाय की प्रतिसंलीनता करनी ही होगी।

मन, वचन और काया—ये तीनों योग हैं। तीनों क्रिया-तंत्र के अंग हैं। इनका काम है—कार्य करना। जो काम करेगा, वह चंचल होगा। वह कभी स्थिर नहीं होगा। आपको कपड़े धोने हैं और आप चाहें कि हाथ स्थिर रहें, हिले ही नहीं, यह नहीं हो सकता। कपड़े कभी नहीं धुलेंगे। रसोई पकानी है और आप कायोत्सर्ग कर बैठ जाएं, स्थिर हो जाएं तो रसोई कभी नहीं बनेगी। काम करना है तो चंचलता करनी होगी। मन का काम चंचलता पैदा करना है, वचन और काया का काम भी चंचलता पैदा करना है। चंचलता इसका स्वभाव है, प्रकृति है। प्रतिसंलीनता करनी है तो इनकी दिशा बदलनी होगी। साधना के द्वारा प्रतिसंलीनता कर मन को स्थिर किया जा सकता है, वाणी को स्थिर किया जा सकता है, काया को स्थिर किया जा सकता है। एक ओर है प्रकृति का अनुदान और दूसरी ओर है साधना का प्रयत्न। साधना के प्रयत्न के द्वारा हम प्राकृतिक अनुदानों को बदल सकते हैं। इन प्राकृतिक अनुदानों को बदलने का नाम ही है साधना और यही है कषाय को मंद करने की प्रक्रिया।

भगवान महावीर ने आत्म-नियंत्रण के, लेश्या-शुद्धि के, अध्यवसाय-शुद्धि के तीन बाहरी सूत्र बतलाए, जो बाहर से हमें प्रभावित करते हैं। वे तीन सूत्र हैं—उपवास, कायोत्सर्ग और प्रतिसंलीनता। ये तीन बाहरी सूत्र हैं जो हमारे कषाय को मंद करते हैं, लेश्या को शुद्ध करते हैं, अध्यवसाय को पवित्र बनाते हैं। जब ऐसा होता है तब कषाय अपने-आप मंद हो जाता है। कषाय को मंद करने के लिए भी हमें एक क्रम से चलना होगा। यदि सीधे ही हम कषाय को मंद करने चलेंगे तो विफल हो जाएंगे। क्योंकि कषायों का इतना तेज आक्रमण है कि हम उसे सहन नहीं कर पाएंगे। इसलिए हमें सबसे पहले यह सोचना होगा कि कषायों को पोषण कहां से मिलता है ? जिस मार्ग से उन्हें पोषण मिलता है, हम उस मार्ग को नष्ट ही कर डालें। जब पोषण बंद हो जाता है तब कषाय मंद हो जाता है। मन, वचन और काया—ये तीन माध्यम हैं। इन तीनों के द्वारा मैल जब अंदर पहुंचता है तब इन तीनों के द्वारा कषाय पुष्ट होते हैं। जब हम मन, वचन और काया के प्रति जागरूक हो जाते हैं, अनशन शुरू कर देते हैं, काय-क्लेश और प्रतिसंलीनता शुरू कर देते हैं तो कषाय को मिलने वाला पोषण बंद हो जाता है। जब पोषण नहीं मिलता, बाहर की रसद प्राप्त नहीं होती, तब धीरे-धीरे मूल नष्ट हो जाता है। उसका बल क्षीण हो जाता है। जब हमारा कषाय मंद होता चला जाएगा तब चैतन्य की रश्मियां अपने-आप बाहर फूटेंगी।

दोनों स्थितियां हमारे सामने हैं। एक स्थिति है—विशुद्ध अध्यवसाय और विशुद्ध लेश्या की। दूसरी स्थिति है—अशुद्ध अध्यवसाय और अशुद्ध लेश्या की। जैसे-जैसे साधना का बल बढ़ेगा, वैसे-वैसे कषाय मंद होगा। जैसे-जैसे कषाय मंद होगा, वैसे-वैसे अध्यवसाय, लेश्या, भाव, कर्म और विचार अपने-आप शुरू होते चले जाएंगे। ❖

अगर आप मानते हैं, हमारे बुरे आचरण का फल हमें भोगना ही होगा—चाहे दूसरों को उसका पता लगे या न लगे, तो आप में और हम में कोई अंतर नहीं है। अगर आप मानते हैं कि नहीं, हम कोई तरकीब करके, कोई तिकड़म लगाकर, इन परिणामों को रोक सकते हैं, तो हमारे में और आप में यही मूल भेद है।

—विचित्रनारायण शर्मा

आत्मज्ञान क्या है

डॉ. महादेव राम विश्वकर्मा

जिद्दू कृष्णमूर्ति अपने समय के ऐसे विशिष्ट सत्यान्वेषी हुए हैं जो परंपराओं, पूर्वाग्रहों, मतों तथा प्रतिबद्धताओं से ऊपर उठने से ही आंतरिक नेत्रों के खुलने की बात करते हैं और इसके लिए किसी पद्धति को अपनाना एक यांत्रिक प्रक्रिया मानते हैं। मानवीय समस्याओं की तह तक जाने वाले जे. कृष्णमूर्ति का जन्म 11 मई, 1895 में आंध्रप्रदेश के चित्तूर जिले में हुआ और उस समय के प्रमुख थियोसोफिस्ट सी. डब्ल्यू. लीड बीटर ने उनमें गहरी आध्यात्मिकता के लक्षण देखे और यह माना गया कि यह बालक एक महान आध्यात्मिक शिक्षक के रूप में विश्व का मार्गदर्शन कर सकता है। आगे चलकर यह धारणा सच साबित हुई। जे. कृष्णमूर्ति के विचारों पर आधारित यहां प्रस्तुत है एक आलेख—

मनुष्य एक उभयधर्मी प्राणी है जो एक ही साथ दो प्रकार के जगत में विचरण करता है। एक जगत तो वह है जो उसे जन्म से प्राप्त है, जिसे बाह्य जगत कहते हैं—जड़, जीवन और चेतना का जगत। दूसरा जगत वह है जो मानव ने विचारों द्वारा निर्मित किया है। इस आंतरिक जगत में मनुष्य जाति के समस्त अनुभवों का सार समाया हुआ है। इन्हीं अनुभवों का समुच्चय स्व या आत्म है, जिसे अहंकार भी कहा जाता है। क्योंकि इन्हीं अनुभवों से हमारा आकार निर्मित होता है कि 'मैं कौन हूं'। इस 'स्व' या 'आत्म' (आत्मा नहीं) का ज्ञान होना ही आत्मज्ञान है। कृष्णमूर्तिजी ने इस आत्मज्ञान की बड़ी महिमा गाई है। उनका कहना है—'भले ही आप विश्व की समस्त उपाधियां प्राप्त कर लें, लेकिन यदि आप अपने आपको नहीं जानते तो आप महामूढ़ व्यक्ति हैं। संपूर्ण शिक्षा का मूल उद्देश्य ही अपने आप को जानना है, आप भले ही बहुत जानकारी इकट्ठी कर लें, बहुत-सा पढ़-लिख लें, परीक्षाएं उत्तीर्ण कर लें, परंतु आत्मज्ञान की अनुपस्थिति में ये सब जीवन के नासमझी के रास्ते हैं।'

'स्व' की सत्ता :

अनुमान किया जाता है कि लगभग पच्चीस लाख वर्षों से मनुष्य पृथ्वी पर रहता आ रहा है। उसने नाना प्रकार की कल्पनाओं, धारणाओं और अनुभवों का संग्रह किया है। विज्ञान के क्षेत्र में तो उसने पर्याप्त प्रगति कर ली है, परंतु मनुष्य का आंतरिक स्वरूप क्या है ? इस प्रश्न पर बहुत कम विचार किया गया है। हमने यह जानने का बहुत कम प्रयास किया है कि 'मैं कौन हूं ?', 'मेरी सत्ता क्या है ?' मेरे 'स्व' का निर्माण कैसे होता है ? वास्तव में यही वे प्रश्न हैं जिन पर गहराई से विचार किया जाना आवश्यक है। 'स्व' की सत्ता के संबंध में कृष्णमूर्ति का कथन है—'स्व' से हम क्या समझते हैं ? इससे मेरा तात्पर्य एक धारणा, स्मृति, निष्कर्ष, अनुभव उल्लेखनीय और अनुल्लेखनीय अभिप्रायों के विभिन्न रूप, कुछ होने या न होने के लिए सचेतन प्रयास, अचेतन में संगृहीत स्मृति, प्रजाति, समूह, व्यक्ति, वंश और इन सबकी समग्रता है, चाहे वह बाहर किसी कर्म के रूप में प्रक्षिप्त होती है अथवा आध्यात्मिक रूप से किसी सद्गुण के रूप में; इस सबके लिए प्रयास ही 'स्व' है और इसी में प्रतियोगिता अर्थात् कुछ होने की इच्छा भी सम्मिलित है। 'स्व' यह तमाम प्रक्रिया ही है।'

द्रष्टा और दृश्य :

मानव-मन अपने नाम, पद, कर्म के अतिरिक्त संस्कारों, विचारों, आदर्शों, परंपराओं एवं अनुभवों के द्वारा 'मैं' की एक प्रतिमा निर्मित करता है। यही वह प्रतिमा है जिसे हम द्रष्टा कहते हैं। स्वयं के साथ-साथ यह मानव-मन दूसरों के

बारे में भी प्रतिमा निर्मित करता रहता है। मैं ज्ञानी हूं, मैं अहिंसक हूं, मैं करुणावान-दयावान हूं, मैं आदर्शवादी हूं—ये सब अपने बारे में बनाई गई प्रतिमा की विशेषताएं हैं, जबकि दूसरे मूढ़, अज्ञानी, निर्दयी एवं अहंकारी हैं, ऐसा हम समझते हैं। इसी प्रकार प्रत्येक व्यक्ति अपने तथा दूसरों के बारे में प्रतिमाएं निर्मित करता रहता है। अपने बारे में बनाई गई प्रतिमा, जो 'द्रष्टा' है, अन्य के बारे में बनाई गई प्रतिमा का जो दृश्य है, सदा मूल्यांकन करता रहता है। यह द्रष्टा अपने भीतर एक नहीं बल्कि अनेक प्रतिमाओं को देखता है, जो वस्तुतः उसी की कृतियां हैं। यह द्रष्टा एक स्थिर या जड़ वस्तु नहीं है बल्कि जो कुछ वह है उसमें सदा कुछ न कुछ जोड़ता और घटाता रहता है। दूसरों के बारे में बनाई गई प्रतिमा का जब द्रष्टा मूल्यांकन करता है तो उस मूल्यांकन से स्वयं की प्रतिमा का निर्माण होता है, इस प्रकार द्रष्टा एवं दृश्य दोनों एक ही हैं। कृष्णमूर्तिजी कहते हैं—'केंद्रीय प्रतिमा यानी वह द्रष्टा ही अनुभवकर्ता, मूल्यांकनकर्ता और निर्णायक है, जो दूसरी सभी प्रतिमाओं पर विजय पाना चाहता है या उन्हें अपने अधीन करना चाहता है या फिर पूरी तरह उसे नष्ट कर देना चाहता है। लेकिन चूंकि दूसरी सभी प्रतिमाएं द्रष्टा के मतों एवं निर्णयों के फल हैं और द्रष्टा स्वयं उन सभी प्रतिमाओं का फल है—इसलिए द्रष्टा ही दृश्य है।'

आत्मज्ञान की साधना :

आत्मज्ञान की साधना के लिए साधन के रूप में विश्व में अनेक ध्यान पद्धतियों का विकास हुआ है। प्राचीन पद्धतियों के साथ ही नवीनतम पद्धतियों का प्रयोग भी विभिन्न साधना केंद्रों पर प्रचलित है। विश्व में प्रचलित सभी ध्यान पद्धतियों का खंडन करते हुए कृष्णमूर्तिजी का कहना है—'हमें किसी दूसरे से आत्मज्ञान प्राप्त नहीं हो सकता। यह कोई ऐसी वस्तु नहीं है जिसे किसी पुस्तक के माध्यम से प्राप्त किया जा सके, इसकी खोज हमें ही करनी पड़ेगी और इस खोज के लिए संकल्प, अनुसंधान, अन्वेषण आवश्यक हैं, और जब तक इस खोज का गंभीरतापूर्वक अन्वेषण करने का संकल्प शिथिल है अथवा उसका अस्तित्व ही नहीं है तो अपने को जानने की किसी आकस्मिक इच्छा मात्र का अथवा तद्-विषयक किसी कथन मात्र का कोई महत्त्व नहीं है।'

जब तक मनुष्य अपनी स्वचेतना के दायरे में लिपटा रहेगा तब तक उसकी समस्याएं भी बनी रहेंगी, क्योंकि 'स्व चेतना' संपूर्ण सत्ता से व्यक्ति को अलग कर लेती है और यह अलगाव ही संपूर्ण मानवीय समस्याओं की आधार शिला है। स्व-निर्मित चेतना का अंत होते ही व्यक्ति समष्टि का हिस्सा हो जाता है। इसी अवस्था का संबोधन वैदिक ऋषियों ने 'अहं ब्रह्मास्मि' या 'तत्त्वमसि' जैसे महावाक्यों द्वारा किया है। इसी अवस्था में शून्यता का बोध होता है, यही परम सुख और परम शांति की अवस्था है, जिसकी मनुष्य को तलाश है।

अहंकार एक भ्रांति :

अहंकार एक भ्रांति है जो मन के दर्पण में प्रतिबिंबित होती है। मैं का भाव सत्य की अनुपस्थिति है, जैसे अंधकार का कोई अस्तित्व नहीं होता जो मात्र प्रकाश का अभाव है। उसी प्रकार जब सत्य का आगमन होता है, तो अहंकार अर्थात् 'मैं' का भाव अपने आप विसर्जित हो जाता है। अहंकार एक अस्थाई चीज है, यह सबसे बड़ा झूठ है। अहंकार वस्तुतः है ही नहीं, यह हमारी कल्पनाओं, मनोभावों तथा इंद्रियों की अनुभूति से मोह होने के कारण उत्पन्न होता है। अहंकार की स्थिति को स्पष्ट करते हुए कृष्णमूर्तिजी का कहना है—'अहंकार' यानी 'मैं' एक अस्थाई चीज है, वह एक भ्रांति है, वह लक्षणों और विशेषताओं का एक समूह है, वह सद्गुणों, दुष्कर्मों और आदर्शों का केंद्र है। ...मैं का अपने आप में कोई अस्तित्व नहीं है। 'मैं' कोई ऐसी वस्तु नहीं है जो स्वयं कोई चीज अनुभव करती है, दरअसल आप अनुभव करते हैं और 'मैं' उत्पन्न हो जाता है, आप के भीतर विचार उठता है और 'मैं' उत्पन्न हो जाता है, आप के भीतर प्रबल भाव उठते हैं और 'मैं' उत्पन्न हो जाता है।'

आत्मज्ञान मुक्ति का स्वरूप है :

कृष्णमूर्तिजी का कहना है कि जब तक मनुष्य अपनी स्वचेतना के दायरे में लिपटा रहेगा तब तक उसकी समस्याएं भी बनी रहेंगी, क्योंकि 'स्व चेतना' संपूर्ण सत्ता से व्यक्ति को अलग कर लेती है और यह अलगाव ही संपूर्ण मानवीय समस्याओं की आधार शिला है। स्व-निर्मित चेतना का अंत होते ही व्यक्ति समष्टि का हिस्सा हो जाता है। इसी अवस्था का संबोधन वैदिक ऋषियों ने 'अहं ब्रह्मास्मि' या 'तत्त्वमसि' जैसे महावाक्यों द्वारा किया है। इसी अवस्था में शून्यता का बोध होता है, यही परम सुख और परम शांति की अवस्था है, जिसकी मनुष्य को तलाश है। मुक्ति की अवस्था का वर्णन करते हुए कृष्णमूर्तिजी कहते हैं—'मुक्ति' मन की एक अवस्था है। यह किसी चीज से 'मुक्ति' नहीं है, बल्कि

उन्मुक्तता और स्वच्छंदता का एक बोध है। ऐसी मुक्ति का अर्थ है निपट एकाकीपन में होना जिसमें न कोई परंपरा है, न कोई सत्ता है और न किसी का नेतृत्व है।'

आत्मज्ञान सद्गुण है :

हमारी परंपरा हमें नैतिकता का पाठ पढ़ाती है। वह हमें सद्गुणी बनने के लिए प्रेरित करती है। परंतु कृष्णमूर्तिजी का कहना है कि वास्तविक सद्गुण तो आत्मज्ञान से प्राप्त होता है और सद्गुणी व्यक्ति ही नैतिक होता है। वही यथार्थ को भी समझ सकता है। सद्गुण से व्यक्ति भयमुक्त होता है और अंत में स्वयं को समझकर मुक्ति का वरण करता है। किसी अभ्यास के द्वारा प्राप्त किया गया सद्गुण कभी भी मुक्ति नहीं दिला सकता और न ही वह आत्मज्ञान में ही सहायक होता है। जिसे हम सद्गुण या नैतिकता समझते हैं, उसे यदि बहुत समीप से देखा जाए तो वह स्वयं से बचने का एक प्रयास है। कृष्णमूर्तिजी कहते हैं—'आप क्या हैं इसे समझना, चाहे वह सुंदर हों अथवा कुरूप हों, दुष्ट हों, शरारतपूर्ण हों—आप जैसे वास्तव में हैं उसे बिना किसी विरूपण के समझना ही सद्गुण का आरंभ है। सद्गुण अनिवार्य है, क्योंकि वह स्वतंत्रता प्रदान करता है। वह सद्गुण ही है, जिसमें आप अन्वेषण कर सकते हैं, जिसमें आप जीवित रह सकते हैं, परंतु अभ्यास से प्राप्त सद्गुण नहीं, जो सम्मान तो दिला देता है परंतु ज्ञान और स्वतंत्रता नहीं देता।'

आत्मा का स्वरूप :

भारतीय दर्शन में सामान्यतः आत्मा की बड़ी महिमा है। परंतु आत्मा के संबंध में कृष्णमूर्तिजी का विचार भारतीय दर्शन में 'आत्मा के स्वरूप' से भिन्न है। उनका कहना है कि सामान्यतया जिसे हम आत्मा कहते हैं, वह हमारा अहंकार ही है जो द्रष्टा के रूप में होता है। यह आत्मा हमारी सभ्यता, संस्कृति, अपेक्षा और आकांक्षा का ही परिणाम है। वैसे तो आत्मा के संबंध में हमने ऐसा विचार बना लिया है कि वह हमारे भौतिक शरीर से परे कोई अमृत तत्त्व है जो अधिक महान, अधिक व्यापक, अक्षय और अमर है। कृष्णमूर्तिजी का कथन है—'हमारी संस्कृति एवं सभ्यता ने, जो अनगिनत मानवों की सामूहिक अपेक्षा और आकांक्षा है, इस 'आत्मा' शब्द का आविष्कार किया है। इसी सामूहिक इच्छा ने कहा—इस भौतिक शरीर के परे जो मरता है, नष्ट होता है, कुछ न कुछ ऐसी वस्तु जरूर होनी चाहिए जो अधिक महान है, व्यापक है, अक्षय है, अमर है। इस प्रकार आत्मा के विचारों की स्थापना हुई।'

स्पष्ट है कि कृष्णमूर्तिजी की दृष्टि में 'आत्मा' शब्द एक प्रकार का विचार है, जबकि आत्मा संबंधी विचार आत्मा नहीं है। आत्मा तो चैतन्य की एक ऐसी अवस्था है जहां मृत्यु की कोई झलक नहीं होती और इस अवस्था की खोज विरला ही कोई स्वयं के लिए करता है। इस अमरत्व की अवस्था को कृष्णमूर्तिजी 'आत्मा' मानते हैं—'यदा-कदा इने-गिने व्यक्तियों ने अपने लिए इस अद्भुत 'अमरत्व' की एक ऐसी अवस्था की खोज की होगी, जहां मृत्यु नहीं है।'

अहंकार विकारों की जननी है :

अनुभवकर्ता अर्थात् अहंकार की अनुपस्थिति में ही आनंद की अनुभूति होती है। जब वह अनुभूति स्मृति का रूप ले लेती है तो वहीं से विचार आरंभ हो जाता है, जो उस अनुभव की पुनरावृत्ति चाहता है। पुनरावृत्ति का यह विचार ही हमारी वासना है जो आनंद को सुख में परिवर्तित कर देती है। कृष्णमूर्तिजी कहते हैं—'आनंद की अनुभूति भी सूक्ष्म प्रतिक्रिया है लेकिन तभी विचार आ टपकता है और अपनी करतूतों से आनंद को सुख में परिणत कर देता है। अर्थात् विचार उस अनुभूति को दोहराना चाहता है और जितना अधिक आप दोहराते हैं, उतना ही वह यांत्रिक हो जाता है।'

चूंकि अहंकार हमारे अनुभवों की गठरी है, जहां से अनुभवों के पुनरावृत्ति करने या न करने की वासना उठती है। अतः अहंकार ही वासना की जड़ है। जब हमें आकांक्षित सुख की प्राप्ति नहीं होती तो सुख प्राप्ति में बाधक तत्त्वों के प्रति क्रोध उत्पन्न होता है और सुख की प्राप्ति हो जाने पर यह सुख हमसे कहीं छिन न जाए, यह विचार भय पैदा करता है। सुख पर हमारा सदा अधिकार रहे और अन्यान्य स्रोतों से हमें और-और सुख प्राप्त होते रहें, यही विचार लोभ को जन्म देता है। इच्छित वस्तु को प्राप्त कर लेने पर हमारा अहंकार और मजबूत हो जाता है, यही मद है। यदि अमुक वस्तु हमें प्राप्त न होकर किसी अन्य को प्राप्त हो गई तो जिसे वह प्राप्त हो गई है, उससे ईर्ष्या पैदा होती है, यही मत्सर है। इस प्रकार अहंकार के कारण हम आंतरिक युद्ध क्षेत्र निर्मित कर लेते हैं। कृष्णमूर्तिजी का कहना है कि—'क्या आपने ध्यानपूर्वक देखा है कि जब आप किसी छोटे सुख से भी वंचित कर दिए जाते हैं, तो आप पर क्या गुजरती है। जो आप चाहते हैं, वह आप को जब नहीं मिलता तो आप चिंता, घृणा और ईर्ष्या की आग में जलने लगते हैं और अपने भीतर कैसी लड़ाइयों से गुजरना पड़ता है।'

❖

आत्मविजय का नीतिशास्त्र

डॉ. बलवंत जानी

आत्मा ही परमात्मा है और आत्मा पर विजय पाना ही हिंदू संस्कृति का आधारभूत लक्षण है। आत्मा अमर है, इसकी कभी मृत्यु नहीं होती, परंतु देह की—शरीर की मृत्यु होती है और आत्मा देहरूपी जीर्ण वस्त्र त्याग कर नूतन देहरूपी वस्त्र धारण करती है। शरीर का चैतन्य तत्त्व है आत्मा और इस आत्म-तत्त्व की पहचान करना ही स्व की पहचान करना है। स्वयं को पूर्णतया जानकर उस पर विजय प्राप्त करना देहधारी का चरम व परम लक्ष्य माना जाता है। इस प्रकार आत्मविजय हिंदू-संस्कृति के नीतिमत्ता के तत्त्वों का एक महत्त्वपूर्ण घटक है।

जैन धर्म में भी आत्मविजय का बहुत बड़ा महत्त्व केंद्रीय स्थान पर है। आत्मविजयी बनना सच्चे अर्थ में महावीर के मार्ग पर जाना माना जाता है। महावीर ने अपनी आत्मा पर विजय प्राप्त की थी। आत्मा पर विजय पाना अर्थात् चित्त में जागृत वृत्तियों पर अंकुश। इनके प्रति वैराग्य भावना विकसित करने की बात यहां केंद्रीय स्थान पर है। आसक्ति-भाव को विदा दें तभी आत्मा पर विजय के मार्ग में प्रयाण संभव हो पाता है। इसके लिए तप केंद्र-स्थान पर है। नए-नए तप विविध रीति से करके जैन आत्मविजयी बनने हेतु प्रवृत्त हैं। इस मार्ग में जो प्रबलता के साथ प्रवृत्त हैं वे संसार का भी त्याग करके, साधु का वेश धारण करके, अपरिग्रही बनकर, अत्यंत कठोर-कठिन तप धारण करके जीवन व्यतीत करते हैं।

जैन धर्म के अनुसार अपरिग्रह अत्यंत बुनियादी तत्त्व है। आत्मविजय के मार्ग में गांधीजी जिनको अपना गुरु मानते थे और अहिंसा की सूक्ष्मातिसूक्ष्म मीमांसा का ज्ञान जिनके द्वारा महात्मा गांधी को प्राप्त हुआ था, उन श्रीमद् राजचंद्र ने श्रावक से वीतराग की दिशा में अपनी यात्रा में जो बहुत बड़ी सफलता अर्जित की थी, उसमें कारणभूत तत्त्व तप, साधना और अपरिग्रही वृत्ति है। गृहस्थाश्रम में से भी किस तरह आत्मविजयी हो पाना संभव है, इसका सबसे बड़ा उदाहरण श्रीमद् राजचंद्र हैं।

अपरिग्रह-वृत्ति जब प्रकट होती है तब आपके पास जो होता है, उस पर भी आसक्ति नहीं रहती और संग्रह-वृत्ति भी नष्ट होने लगती है। इस प्रकार अनासक्त बनने की ओर मोड़ती है अपरिग्रह-वृत्ति। यही वृत्ति जैनों में समग्र समाज के प्रति करुणाभाव अथवा समभाव जगाती है। जो लोग अभावग्रस्त हैं, उनको कुछ देकर आप आत्मीय-भावना विकसित करते हो, इसमें भी जिन लोगों से कुछ भी प्राप्त नहीं होता, उनके प्रति, अर्थात् मूक-अबोल प्राणियों के प्रति करूणाभाव एक बहुत बड़ी बात है।

गाय जैसे प्राणी और अनेक पशु-पक्षियों के निमित्त खाने-पीने की व्यवस्था को लेकर चिंता करने में चित्त की बहुत बड़ी व्यापकता दृष्टिगोचर होती है। पिंजरापोल या चबूतरे अथवा कुएं-बावड़ी-प्याऊ के द्वारा अबोल प्राणियों के प्रति प्रेमभाव प्रकट

स्व पर अंकुश लगाना अर्थात् तमाम समस्याएं समाप्त। स्वयं अपने प्रति सख्त रुख अख्तियार करने की बात यहां केंद्र में है। व्यक्ति खुद को ही ज्यादा चाहता है और इसी की चिंता में व्यस्त है। स्व से मोह छूटने पर ही सबों का—समाज का व्यापक स्तर पर चिंतन करना संभव है। जो सबों का विचार करने में सक्षम है वही सच्चे अर्थ में सुखी है। ऐसे सुखी बनने वाले लोग आत्मविजयी माने जाते हैं।

करने का अवसर दान-वृत्ति है। जिनकी तरफ से प्रत्यक्ष या परोक्ष रीति से किसी भी प्रकार का आभार-प्रदर्शन प्राप्त नहीं होता, उनके प्रति चिंता रखना यही दरसाता है कि दान के सिवा किसी भी तरह के परिणाम की आकांक्षा वहां नहीं है।

जिन लोगों में आत्मविजयी वृत्ति है और जिन्होंने आत्मविजयी बनने का लक्ष्य धारण किया है, ऐसे जैन दूसरों में विद्यमान आत्मा के रक्षक बनते हैं। इस प्रकार सबों में आत्मा है, उसकी हिंसा न हो, ऐसी सचेष्टता से ही जैन धर्म की व्यापक दृष्टि का परिचय मिलता है। जीवहिंसा का सच्चे अर्थ में विनियोग तो जैन दर्शन में ही हमें देखने को मिलता है। हिंसा की अवधारणा का अधिक विस्तार के साथ विवेचन जैन तत्त्व दर्शन में हुआ है, जो विश्व को भारत का सबसे बड़ा अवदान माना जाता है। हजारों वर्षों पूर्व वनस्पति में भी जीव है, आत्मा है और प्राणी—पशु सृष्टि, जलचर-वनचर के प्रति सद्भावना प्रकट करते हुए इनकी हिंसा न हो, इस आशय का सख्त मनोभाव प्रकट किया गया था। आगे चलकर विज्ञान ने यह सिद्ध कर बताया कि वनस्पति महा चैतन्यशील है, पर आत्मविजयी बनने से पहले सच्चा अहिंसक बनना जैन धर्म की तत्त्वदर्शन धारा का एक प्रमुख प्रकरण है। यहां यह बात केंद्र में है कि आत्मा का रक्षक, अन्य आत्मा के अस्तित्व को स्वीकार करके स्व पर विजय प्राप्त करने हेतु प्रवृत्त हो।

आत्मविजयी होने के लिए क्षमावान होने का भाव जैन धर्म का एक आधारभूत सूत्र है। जो क्षमावान है, वह वस्तुतः अन्य आत्मा—देहधारी के प्रति दुर्भाव नहीं रखता। सभी जीवों के प्रति अर्थात् तमाम आत्मा के प्रति ऐसा उच्च आदर्श भाव हृदय में विकसित हो तभी आत्मविजयी बनने हेतु सीढ़ी-दर-सीढ़ी चढ़ना सरल बन जाता है, परंतु बहुत कठिन है हृदय में क्षमाभाव को धारण कर पाना। क्षमा देना, इतना ही नहीं, वरन् हृदय से क्षमा मांगना। ऐसा नितांत प्रेमपूर्ण हृदय आत्मविजयी ही माना जाता है। महावीर सबसे बड़े क्षमावान के आदर्श उदाहरण हैं। जिन-जिन ने भी उनको कष्ट दिए थे, उन सबके प्रति उन्होंने क्षमाभाव रखा और क्षमाभाव प्रकट किया। क्षमाभावना में से ही आगे चलकर प्रेम और मैत्रीभाव प्रकट होता है। क्षमाभावना धारण करने वालों को फिर सभी आप्तजन लगते हैं। किसी के प्रति दुर्भावना या पक्षपात नहीं, वरन् सबों के प्रति समभाव प्रकट होता है। यह अत्यंत विरल चीज है। आप सबों को चाहते हैं, ऐसा तभी कह सकते हैं, जब आपको किसी के प्रति दुर्भावना न हो।

लेखक उत्तर गुजरात विश्वविद्यालय में कुलपति हैं।

इस प्रकार तप-साधना के उपरांत जैनोलोजी में जिस रीति से आत्मविजयी बनने संबंधी महत्त्वपूर्ण व्रत गिनवाए गए हैं, वे हैं अपरिग्रह, अहिंसा और क्षमा। दैनंदिन जीवन में—व्यवहार में जिस व्यक्ति के द्वारा उन्हें अपनाया जाता है, उस व्यक्ति के व्यक्तित्व में ये तत्त्व एक महान आभा ग्रहण कर लेते हैं। जो भी इन तत्त्वों को अपनाता है, उसके लिए आत्मविजयी बनने का मार्ग सरल हो जाता है। जीवन का जो लक्ष्य है, उसे हासिल करने के लिए प्रथम तो व्यक्तित्व कैसा हो, इस पर जैनोलोजी में अत्यंत सूक्ष्मता के साथ चर्चा हुई है। जैनोलोजी के नीतिशास्त्र में आत्मविजयी बनना एक सच्चा लक्ष्य है और इसके लिए जीवन में धारण करने योग्य महत्त्वपूर्ण तत्त्व तीन गिनाए गए हैं।

आत्मविजयी महावीर कहलाता है या वीतराग कहलाता है, क्योंकि उसने आत्मा पर विजय प्राप्त की है। जैन दर्शन की विचारधारा को व्यक्त करने वाले अनेक ग्रंथों में इस संबंध में अनेक सूत्र हैं। इन मूल प्राकृत भाषा के सूत्रों के उदाहरण के संदर्भ में आत्मविजयी संज्ञा का जरा गहराई से परिचय प्राप्त करने का उपक्रम यहां किया गया है।

जैन तत्त्वदर्शन के विविध ग्रंथों में आत्मा और उस पर विजय प्राप्त करने संबंधी विवरणों को निर्देशित करने वाले अनेक सूत्र हैं। इन सूत्रों में विशेष रूप से तो आत्मा की सर्वोपरिता झलकती है। इस सुप्रीम आत्मा का हित चाहने वाले आत्मविजयी तथा उत्सुक व्यक्ति को कैसा व्यक्तित्व धारण करना होगा, इसका परिचय देने वाले ये सूत्र देखिए :

कोहं माणं च मायं च लोभं च पाववड्ढणं।
वमे चत्तारि दोसे उ इच्छंतो हियमप्पणो।।

अर्थात् क्रोध, मान, माया और लोभ पाप को बढ़ाने वाले हैं। अपनी आत्मा का हित चाहने वाले को इन चार दोषों को छोड़ देना चाहिए।

इस प्रकार यहां क्रोध, सम्मान, माया और लोभ जैसे स्वभावगत अवगुण जबरदस्त अवरोधक हैं। आत्मा पर जिन्हें विजय प्राप्त करनी है उनके लिए ये चार अवगुण अथवा दोष माने गए हैं। व्यक्तित्व में से इन चारों को विदा कर देने वाला ही सच्चा हितैषी है। एक अन्य सूत्र में आत्मा के संबंध में बताने वाले भाव का एक विशेष परिमाण प्राप्त होता है, जरा देखिए :

अप्पा कत्ता विकत्ता य दुक्खाण य सुहाण य।
अप्पा मित्तममितं च दुप्पट्ठियसुपट्ठिओ।।

अर्थात् आत्मा स्वयं ही अपने सुख-दुख की कर्ता है और उसका नाश करने वाली भी है। अतः सद्मार्ग पर चलने वाला आत्मा का मित्र है और कुमार्ग पर चलने वाला आत्मा का शत्रु है।

यहां अत्यंत सूक्ष्मता के साथ आत्मा का मित्र कैसे व्यक्तित्व वाला होता है और आत्मा के शत्रु का कैसा व्यक्तित्व होता है, इसकी मीमांसा हुई है। जो भी परिस्थिति पैदा होती है उसके लिए आत्मा ही कारणभूत है। हमारे काम ही हमारे परिचायक हैं, अर्थात् हममें विराजमान आत्मा के शत्रु हों ऐसा व्यक्तित्व नहीं वरन् आत्मा के मित्र जैसा व्यक्तित्व हमारे कार्यों द्वारा प्रकट हो, यह आवश्यक है। यहां आत्मविजयी होने को उत्सुक व्यक्ति के व्यक्तित्व की बात हुई है, इसी भांति कई सूत्र आत्मा का परिचय भी अत्यंत लाघव से देते हैं। इसके लिए अत्यंत प्रख्यात दो सूत्र हैं :

अप्पाणमेव जुज्झाहि किं ते जुज्झेण बज्झओ।
अप्पाणमेव अप्पाणं जइत्ता सुहमेहए।।

अर्थात् बाहरी शत्रुओं से किसलिए युद्ध करते हो? अपनी आत्मा के साथ ही युद्ध करो न! जो आत्मा के द्वारा आत्मा को जीतते हैं, वही सच्चा सुख प्राप्त करते हैं।

यहां बाहर के शत्रुओं के साथ नहीं, वरन् आत्मा के अंदर ही जो शत्रु हैं, अवरोधक परिबल हैं, उनका प्रतिकार करने, उनके समक्ष लड़ने का ही सुझाव दिया गया है। सच्चे सुख को जो प्राप्त करना चाहते हैं, उनको आत्मा को ही जीतने का काम करने की तरफ मुड़ना है। एक अन्य सूत्र में भी इसी बात को अत्यंत सचाई के साथ कहते हुए आत्मा की पहचान कराई गई है :

अप्पा नदी वेयरणी अप्पा मे कूडसामली।
अप्पा कामदुहा धेणू अप्पा मे नंदणं वणं।।

अर्थात् आत्मा स्वयं ही वैतरणी नदी है। आत्मा ही कूटशाल्मली वृक्ष है। आत्मा ही कामधेनु है और आत्मा ही नंदनवन है।

यहां आत्मा की सर्वोपरिता का ज्ञान अत्यंत सादे ढंग से दिया गया है। जो तमाम प्रकार की कामनाओं को पूर्ण करने वाली कामधेनु गाय है या मोक्ष प्रदान करने वाली सरिता वैतरणी के समान है, उस आत्मा के प्रति ही अभिमुख रहना चाहिए।

आत्मा की पहचान प्राप्त कर लेने वाले आत्मविजयी के विषय में भी कई सूत्र हैं। उनमें से तीन सूत्रों के आधार पर आत्मविजयी बनने संबंधी विषयों का परिचय प्राप्त करें। एक सूत्र में कहा गया है कि :

अप्पा चेव दमेयव्वो अप्पा हु खलु दुद्दमो।
अप्पा दंतो सुही होई अस्सिं लोए परत्थ य।।

अर्थात् अपनी आत्मा का ही दमन करना चाहिए, क्योंकि आत्मा ही दुर्दम्य है। आत्मा पर विजय पाने वाला ही इस लोक में और परलोक में सुखी होता है।

स्व पर अंकुश लगाना अर्थात् तमाम समस्याएं समाप्त। स्वयं अपने प्रति सख्त रुख अख्तियार करने की बात यहां केंद्र में है। व्यक्ति खुद को ही ज्यादा चाहता है और इसी की चिंता में व्यस्त है। स्व से मोह छूटने पर ही सबों का—समाज का व्यापक स्तर पर चिंतन करना संभव है। जो सबों का विचार करने में सक्षम है वही सच्चे अर्थ में सुखी है। ऐसे सुखी बनने वाले लोग आत्मविजयी माने जाते हैं। एक अन्य सूत्र में यही विचार जरा विस्तार के साथ कहा गया है, उसका भी जरा परिचय तो पा लें :

पंचिंदियाणि कोहं माणं मायं तहेव लोभं च।
दुज्जयं चेव अप्पाणं सव्वमप्पे जिए जियं।।

अर्थात् पांच इंद्रियों तथा क्रोध, मान, माया व लोभ को जीतना कठिन है। आत्मा को जीतना इनसे भी ज्यादा कठिन है। परंतु आत्मा को जीतने से सबों को जीता जा सकता है।

यहां पहले सूत्र में जिनकी बात आई थी। उन क्रोध, सम्मान, माया व लोभ के अलावा पांच इंद्रियों पर विजयी बनना कठिन है, परंतु इन सबसे भी ज्यादा कठिन है आत्मा पर विजयी बनना।

अर्थात् यहां यह निर्देशित किया गया है कि कितनी उग्र तपश्चर्या के पश्चात् और वृत्ति संस्कारित हो जाने के पश्चात् यह संभव हो पाता है। साथ ही साथ यदि आत्मा को जीत लिया जाए तो फिर उससे सबों को जीता जा सकता है। इस प्रकार पहले स्व पर विजय और फिर अत्यंत सरलता से सबों पर विजय पाई जा सकती है। तीसरे एक सूत्र में भी ऐसी ही परम विजय की महत्ता का महिमा-गान सुनाई देता है :

जो सहस्सं सहस्साणं संगामे दुज्जए जिणे।
एगं जिणेज्ज अप्पाणं एस मे परमो जओ।।

अर्थात् दुर्जेय संग्राम में कोई मनुष्य लाख शत्रुओं को परास्त करे, इसके बजाय अपनी आत्मा पर विजय प्राप्त करे, वही परम विजेता है।

युद्ध में आप लाखों शत्रुओं पर विजय पाते हो, वस्तुतः वह विजेता बनने का लक्षण नहीं है। आप स्वयं अपने पर विजयी बनें, यही महत्त्वपूर्ण है। सम्राट अशोक को शत्रुओं पर विजेता होने के बाद निरर्थकता का अनुभव हुआ, भरत और बाहुबलि को जो असारता का अनुभव हुआ, वही उन्हें

आत्मविजयी बनाने वाला तत्त्व था। जो आत्मविजेता है, वही परम विजेता है। महिमा राजा की या विजयी सेनापति की नहीं, महिमा जिसने खुद पर अंकुश लगाया है, उस स्व सेनापति की है।

स्व पर विजय अर्थात् अपने चित्त में उठने वाली वृत्तियों पर विजय। इन वृत्तियों पर जिसने अंकुश लगाया है, वही विजेता हो सकता है। ये वृत्तियां चित्त में किस तरह जगाई जाएं, यह सोच आत्मविजेता को ही होता है, क्योंकि उसके भीतर अपरिग्रह, अहिंसा और क्षमा के गुण खिल जाते हैं। जो स्व का नहीं, सर्व का विचारक बन जाता है, ऐसा व्यापक हृदय सच्चे अर्थ में आत्मविजयी ही होता है, तभी तो जैनोलोजी में उसकी जबर्दस्त महत्ता है।

आज भोग-प्रधान सभ्यता को भी धीरे-धीरे हिंदू संस्कृति का, जैनोलोजी का, महत्त्वपूर्ण यह विचार समझ में आने लगा है। विज्ञान भी सच्ची रीति से इस प्रकार की प्रकृति धारण करने वाले को नोर्मल बिहेवियर मानता है। बुद्धिजीवियों और तर्कवेत्ताओं को भी सर्व का चिंतन करने वाली, समाजोत्थान के महान विचार को फैलाने वाली तथा इस निमित्त से राष्ट्र को परम वैभव के शिखर तक पहुंचाने वाली इस विचारधारा की महिमा समझ में आई है। जैनोलोजी में विस्तार एवं विशद रीति से छने हुए आत्मविजेता के नीतिशास्त्र का विचारोत्तेजक प्रकरण अधुनातन समय की भी सबसे बड़ी देन है। ❖

अनुवाद : **रामनरेश सोनी**

“

यह सत्य है कि किसी समूह या समाज के मनुष्यों में आपसी एकता या संबंध इतना घनिष्ठ, इतना संपूर्ण, इतना सूक्ष्म संतुलन वाला और इतना कोमल नहीं होता, जितना किसी एक मानव-प्राणी के भीतरी मानसिक, नैतिक और शारीरिक तत्त्वों में परस्पर होता है। समाज अभी तक एक वास्तविक सजीव शरीर नहीं बना है। एक सूक्ष्म सत्ता के रूप में समाज का अपना कोई अंतःकरण नहीं होता। जैसा कि कहा जाता है, 'किसी संगठन के आत्मा नहीं होती।' परंतु किसी समाज के दुराचारों से उसके चरित्र का ह्रास और यदि वे चालू रहें तो अंत में विनाश उतना ही निश्चित है, जितना किसी व्यक्ति का विनाश निश्चित है। इसलिए यदि समाज को कभी भी सुधरना है, तो यह बात और ज्यादा महत्त्व की है कि नेताओं को अपने समूह और समाज की ओर से काम करते समय अधिक विवेकशील और सारे नैतिक नियमों के पालन के लिए अत्यंत आग्रही होना चाहिए। किसी नेता के दिल और दिमाग में व्यक्तिगत सदाचरण और समूह के हितों के बीच की वफादारियों का संघर्ष हो, तो उससे उसका व्यक्तित्व खंडित हो जाता है, जिसका परिणाम कुछ उदाहरणों में पागलपन तक पहुंच सकता है। यह सच है कि सामूहिक कार्य में अक्सर पेचीदा और परस्पर विरोधी स्वार्थ होते हैं। बहुधा अपना मार्ग स्पष्ट देख सकना अत्यंत कठिन हो जाता है और मनुष्य से गलतियां हो जाती हैं। परंतु आध्यात्मिक और नैतिक सिद्धांत बहुत समय से जाने हुए हैं और वे काफी सीधे-सादे हैं। सबसे बड़ी कठिनाई तो समझौतों के कोलाहल से और भूतकाल की बुरी विरासतों से पैदा होती है। यदि इतिहास कोई पाठ सिखाता है तो वह यह है कि समूहों के नेताओं की नैतिक असफलताएं समाज के लिए गंभीर खतरे हैं।

—रिचर्ड बी. ग्रेग

”

अनुभूति

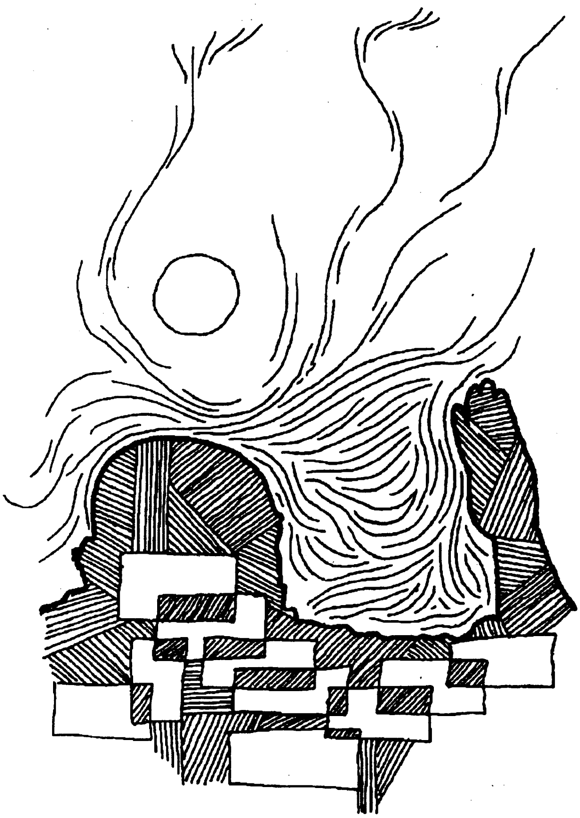

रात

पलकों पर बोझ है
और रात अभी शुरू हुई है
कोई सपना इतना हल्का नहीं होता
कि सुबह बन जाए।

अंधेरा पत्थर है
जिसे हर रोशनी अपने आकार में
गढ़ती है,
जब तक रहती है।
फिर एक पहाड़ के सामने
छेनी–हथौड़ा छोड़ कर
चली जाती है।

पलकों पर बोझ है पहाड़ का
और रात अभी शुरू हुई है।
खुद को एक नए सिरे से तराशना
मुझे शुरू करना है।

—सर्वेश्वरदयाल सक्सेना

कषाय विवेचना

साध्वी राजीमती

कषाय जीवनगत विकारों का उत्स है। इसके प्रवाह में जब भी मंदता या तीव्रता आती है, तब-तब जीवन शांत या अशांत होता जाता है। कषाय शब्द का अर्थ है—कष अर्थात् कषना, बांधना। किसे ? शास्त्रकार कहते हैं—कर्म को कषे, भव को कषे। जिस विकार से, भाव से, भव का अथवा कर्म का उदय होता है, लाभ या प्राप्ति होती है—उसे कषाय कहते हैं।

कषः संसारः तस्य आय इति कषायः

कषाय का दूसरा अर्थ है—कष विलेखन—खोदना, कुरेदना।

तीसरा एक अर्थ और किया गया है—

कृषन्ति—विलिखंति कर्म क्षेत्रं सुख दुख फलयोग्यं कलुषयंति वा जीवं इति निरुक्त—विधिना कषायाः।

जो कर्मों की कृषि करता है अर्थात् कर्म के क्षेत्र को खोदता है, वह कषाय है। यह फसल जब पकती है तब सुख-दुखरूपी फलों को पैदा करती है।

स्थानांग सूत्र में बताया है जैसे कषायरस-प्रधान वस्तुओं के सेवन से अन्न रुचि कम होती है। क्रमशः वैसे ही कषाय-प्रधान जीवों में मोक्षगमन की रुचि न्यून हो जाती है। 'अन्नरुचि स्तम्भनकृत् कषायः। कषाय का स्वभाव है—

रूक्षः शीतः गुरुग्राही रेचकश्च स्वरूपतः ।।

दसवैकालिक की टीका में कुछ बेलों का नाम कषाय है जो कषायरस-प्रधान द्रव्यों को उत्पन्न करती है।

प्राणियों को जिससे कषा जाता है उसका नाम कषाय है। जैसे कषोपल पर सोने को कसा जाता है। घर्षण, आकर्षण एवं भ्रमण कषाय से ही होता है।

आदतें कैसे सुधारी जाएं ? आदतों के सुधार की बात असंभव नहीं है। सर्वथा नहीं तो आंशिक परिवर्तन संभव है।

किसी भी बीमारी के प्रतिकार के पूर्व उसका यथार्थ ज्ञान होना आवश्यक है। जहर को जहर जानने के बाद जैसे बचाव प्रारंभ हो जाता है, वैसे ही वृत्तियों के जहर को जानने के बाद आकर्षण समाप्त हो जाता है। एक साथ या धीरे-धीरे मन को प्रशिक्षित करके त्यागा जा सकता है।

कषाय का परिवार—

किसी के परिवार को समझने से कभी-कभी मालिक को समझना आसान हो जाता है। कषाय का परिवार है—क्रोध, मान, माया और लोभ। ये चारों ही तनाव, आवर्त और आवेग को उत्पन्न करते हैं। यह इनका अपना कार्यक्षेत्र है। तनाव और आवेग की अवस्था में हमारी चेतना में एक आवर्त पैदा होता है। आवर्त अर्थात् भंवर, भंवर में उलझन स्वाभाविक है। जब वृत्तियों का पाप बढ़ता है, तब मन के आस-पास आवर्त ही आवर्त निर्मित हो जाते हैं। उन आवर्तो को चीरकर आगे बढ़ जाना महान आध्यात्मिक पुरुषार्थ है।

चारों आवर्तों की पहचान—

चत्तारि आवत्ता पण्णत्ता-तंजहा खरावत्ते उन्नयावत्ते गूढावत्ते-आमिसावत्ते

एवमेव चत्तारि कसाया पण्णत्ता। खरावत्तसमाणे कोहे, उन्नयावत्त समाणे माणे, गूढावत्त समाणा माया, आमिसाक्त समाणे लोहे।

, जब मन क्रोधातुर होता है तब दिमाग चक्राकार घूमता है, यह आवर्त इतना तीक्ष्ण होता है कि एक बार तो क्रोधी व्यक्ति बेहोश-मूर्च्छित जैसा हो जाता है। समुद्री भंवर से क्रोधी मनःस्थिति की हम तुलना कर सकते हैं। यह है—खरावर्त समान क्रोध।

उन्नतावर्त समान मान—

अभिमान पहाड़ की चोटी पर चक्राकार घूमने वाली हवा के तुल्य होता है। वह हवा जैसे चोटी को उड़ाकर ले जाना चाहती है वैसे ही अभिमानी व्यक्ति दूसरों के अस्तित्व को समाप्त करने का आवर्त-भंवर तैयार करता है इसलिए भगवान ने मान के आवर्त को उन्नत बताया है। मानी सदा स्वयं को ऊंचा और सामने वाले को नीचा देखता है।

गूढ़ावर्त समान माया—

मायावी मन का आवर्त भीतर होता है। इतना गहन होता है जिसकी गति समझ में नहीं आती। जैसे फिरकी लट्टू की गति सूक्ष्म होती है। लंबे समय तक घूमने के बाद क्रमशः उसकी गति ज्ञेय होती है। यही स्थिति मायावी मन की होती है। क्योंकि बहुत लंबे समय तक मायावी की मनःस्थिति को हम समझ नहीं सकते। इसीलिए लोग धोखा खा लेते हैं।

आमिषावर्त समान लोभ—

मांस के लिए शकुनी पक्षी जैसे उसके चारों ओर चक्कर लगाता है। फलतः कुछ ही मिनटों में उसके चारों ओर एक आवर्त, भंवर बन जाता है। यही स्थिति लोभी मानस की है। उसका मन अर्थ को, पद-प्रतिष्ठा को केंद्र मानकर सदा घूमता रहता है।

कषाय के प्रकार—

1. नाम कषाय, 2. स्थापना कषाय, 3. द्रव्य कषाय, 4. उत्पत्ति कषाय, 5. प्रत्यय कषाय, 6. आदेश कषाय, 7. रस कषाय, 8. भाव कषाय।

नाम कषाय—किसी व्यक्ति या पदार्थ का नाम कषाय होना।

स्थापना कषाय—क्रोधातुर, भयानक, आसुरी आकृतियों का चित्रण करना, उन्हें किसी आकार में स्थापित करना।

द्रव्य कषाय—जिन कर्म प्रकृतियों के उदय से कषाय पैदा होता है वह द्रव्य कषाय कहलाता है। जो द्रव्य लोक में कषायरस-प्रधान हैं वे पदार्थ 'द्रव्य-कषाय' कहलाते हैं।

उत्पत्ति कषाय—कुछ ऐसे पदार्थ होते हैं जो कषाय के उद्दीपन में प्रबल प्रेरक बनते हैं, जब आदमी बाह्य निमित्त—पत्थर, खंभे से टकराता है तब अधीर बनकर उसी को खंडित करने की सोचता है। और वह जिसने सताया, उसे हटाने की, मारने की चेष्टा करता है। कुछ ऐसे भोज्य पदार्थ होते हैं जिनके सेवन करते ही चेतना उन्मत्त एवं उत्तप्त हो जाती है, जैसे मादक पदार्थ, शराब आदि पूरे नाड़ी तंत्र को एक साथ प्रभावित कर देता है। सात्विक भोजन जहां शरीर को स्वस्थ रखता है वहां मन को भी संतुलित, स्वस्थ रखता है। ऐसा भोजन मन को शांत एवं स्थिर रखने में भी सहायक बनता है। मांसाहार, उत्तेजना का निमित्त बनता है। वह स्नायुओं पर दबाव बढ़ाता है। इसी प्रकार समय, क्षेत्र और पर्यावरण—हवा-पानी की प्रतिकूलता भी कषाय वेदनीय कर्म की उदीरणा में सहयोगी बनती है।

प्रत्यय कषाय—हमारे भीतर जो कषाय के प्रत्यय, कारण स्थाई रूप में विद्यमान हैं उनकी संवेदनाएं भिन्न-भिन्न होती हैं। किसी को गर्म हवा अच्छी लगती है और किसी को ठंडी। परंतु सामान्यतया सबको ठंडी हवा अच्छी और गर्म हवा बुरी लगती है। निमित्त भीतर जाता है। यदि भीतर के कारण प्रबल हैं तो वह निमित्त शक्तिशाली बनकर पुनः बाहर लौट आता है। हिंसा बाहर दिखाई देती है। किंतु उसके कारण भीतर रहते हैं। निश्चयनय के अनुसार कर्मबंध का कारण राग है, न कि शरीर की चेष्टाएं। जैसे एक व्यक्ति शरीर पर चिकनाई, तेल लगाकर व्यायाम करता है, इधर-उधर रेत में करवटें बदलता है, संकोच-विकोच करता है, फलतः वह उस धूल से लिपट जाता है। इस धूल-संश्लेषण का कारण है चिकनाई, न कि शारीरिक चेष्टाएं। मन एवं शरीर का व्यायाम दृश्य कारण है, परंतु उसका अदृश्य कारण है राग, भीतर की चिकनाई। फिर हम क्यों मानें कि योग कर्मबंध का कारण है, योग का प्रेरक कोई दूसरा है।

अविरति और प्रमाद कषायोत्पादन में अंतरंग कारण हैं। व्यवहार भाषा में लोकैषणा से इच्छाएं पैदा होती हैं, इच्छाओं से परिग्रहण, परिग्रहण से संग्रहण और फिर क्रमशः बाह्य के प्रति आकर्षण। इस प्रकार पूरे जीवन एवं व्यवहार को प्रभावित करता है कषाय-भाव।

आदेश कषाय—बिना किसी विशेष कारण के चेहरे को उत्तेजित प्रदर्शित करना, कड़े शब्दों में उलाहना देना एवं

हाव-भाव से गर्मी दिखाना। इसे कई विचारकों ने भद्रक्रोध, देवीक्रोध एवं धर्मक्रोध तक कह दिया है। यह क्रोध परकल्याण की भावना से ऊपरी सतह पर पैदा किया जाता है अर्थात् मात्र अभिनय होता है। श्रमण कैसे कर सकते हैं ? पूर्णता की स्थिति में सभी परिहार्य है। परंतु वे भीतर से सर्वथा उस दोष से अस्पृष्ट रह सकते हैं। जो आचार्य ऐसा नहीं कर सकते उनमें तात्कालिक दोष की संभावना की जा सकती है।

रस कषाय—हरीतकी जैसी कषैली वस्तुओं का रस।

भाव कषाय—जब हम वास्तव में क्रोध आदि कषाय पर्याय में चले जाते हैं, कषाय आत्मज्ञान, आत्मा पर हावी हो जाता है। क्रोध से भर जाते हैं।

कषाय रेचन की अनिवार्यता—आनंद की प्राप्ति साधना की मौलिक निष्पत्ति है। यह उपलब्धि कषाय त्याग से ही संभव है।

'सहजानन्दोपलब्धये कषाय व्युत्सर्गः'

वैराग्य चूड़ामणि में आचार्य शंकर भी यही कहते हैं—

वैराग्यं च मुमुक्षत्वं, तीव्रं यस्य तु विद्यते।
तस्मिन् ते वार्थवन्तः स्युः फलवंतः शमादयः।।1।।

एतयोः मंदता यत्र, विक्तित्व मुमुक्षयोः।
मरौ सलिलवत् तत्र शमादेर्भास मात्रता।।2।।

यह स्पष्ट है कि वैराग्य और मुमुक्षाभाव के अभाव में शम-दम जैसे गुण आत्मा में उत्पन्न ही नहीं हो सकते। केवल उनका आभास जैसा हो सकता है। यही तथ्य सूत्रकृतांग में भगवान महावीर स्पष्ट करते हुए कहते हैं—

विवेकवान-भेदज्ञाता 'छन्नं च पसंसणोकरे'—क्रोध (प्रकाश), मान (उत्कर्ष), माया (छन्न) और लोभ (प्रशंसा) नहीं करें। जो चारों कषाय का सेवन नहीं करता वही विवेकवान पुरुष अपने पुरुषार्थ को सफल कर सकता है। कषाय बहुत बार तेज नहीं होता। जब-जब कषाय तेज प्रवाह के साथ बाहर आता है तब आदमी का विवेक मर जाता है। जैसे पानी के तालाब में बूंद-बूंद का अस्तित्व सदा रहता है वैसे ही आत्म तालाब में बूंद-बूंद का अस्तित्व सदा रहता है। आत्म तालाब में कषाय के बुलबुले सदा रहते हैं, परंतु जब तूफान आता है तब भीतर में सब उभर आता है। यदि उभार को समाप्त करना है तो हवा का दबाव कम करने के बजाय भीतर का दबाव (कषाय) कम करें। यह स्पष्ट है कि यदि पानी स्वभाव से चंचल नहीं होता तो उसे हवा भी नहीं हिला सकती। यही सयोगी संसारी आत्मा की स्थिति है। महावीर शांत थे। क्योंकि उनके बंधन शिथिल होकर बाहर आ गए थे। बंधनों की जन्मभूमि कषाय है। फिर कषाय से बंधन मजबूत बनते जाते हैं। इसलिए साधक को केवल कषाय की अल्पता पर ही जागरूक रहना है। कहा भी है कि जिस साधक का कषाय उपशांत नहीं है वह तीव्र तपो साधना करता हुआ भी सफल नहीं होता है। उसका सारा परिश्रम गज-स्नान की तरह व्यर्थ चला जाता है—

जस्सविय अप्पणिहिया, कसाया तवं चरंतस्स।।
सो बाल तवस्सीविव गयणहाण परिस्समं कुणइ।।

इसी प्रसंग में वृहत्कल्प निर्युक्ति का एक श्लोक है जिसका भाव है श्रामण्य का पालन करते हुए भी जिसके कषाय प्रबल हैं उसका श्रामण्य इक्षु पुष्प की तरह निष्फल हो जाता है, क्योंकि इक्षु के फूल आने के बाद फल नहीं आता—

सामण्ण मणु चरंतस्स कसाया जस्स उक्कड़ा होंति।
मन्नामि उच्छुफुल्लं व, निष्फलं तस्स सामण्णं।

सचाई तो यह है कि मन की शांत, स्थिर, समत्वपूर्ण अवस्था का नाम ही श्रामण्य-संयम है। विशेषावश्यक भाष्य में कहा भी है—

अकषायं तु चरंतं, कषाय सहितो न संजमो होई।

संयम कषाय सहित नहीं होता। जितना-जितना अकषाय भाव है उतना-उतना संयम है।

कषाय की वृद्धि कहां-कहां होती है ? इसके अनेक उत्तर हो सकते हैं। ग्रंथकार ने एक महत्त्वपूर्ण उत्तर दिया है—

'कषायवुड्ढिं करेज्जा गच्छ बज्झो', जो किसी योग्य गुरु की, गच्छ की शरण में नहीं है, वह कषाय को बढ़ाता है। यह कथन इस बात को पुष्ट करता है, गुरु के द्वारा प्रशिक्षण होना शिष्य के लिए अनिवार्य है।

कषाय के परिणाम—यह सामान्य बात है कि रोग के कीटाणु रोग को पैदा करते हैं। इसीलिए सड़े-गले पदार्थों को दूर फेंका जाता है। बचाव किया जाता है। मनोविज्ञान के अनुसार तनाव सब बीमारियों का कारण है। यही बात जैनाचार्यों-शास्त्रकारों ने कषाय के संबंध में कही है। कषाय तनाव का वाचक जैसा है। तनाव, शरीर और भाव जगत में खिंचाव पैदा करता है। कषाय भी यही कार्य करता है। कष—जो खींचता है वह कषाय है। शिराओं, कोशिकाओं, स्नायुओं तथा ज्ञान-तंतुओं में कषाय से अव्यवस्था, असंतुलन होता है।

क्रोध—क्रोध में प्रथम बार ज्ञानतंतु उत्तेजित होते हैं। फिर धीरे-धीरे संवेदन-शून्यता आती है। स्मृतिबल घटने लगता है। रक्तचाप बढ़ता है। अम्लपित्त, मधुमेह आदि कई बीमारियों की संभावनाएं प्रबल हो जाती हैं।

मान—अहंकार की वृत्ति से स्नायुओं में कठोरता, दर्द उत्पन्न हो सकता है। रक्त-विकार, यकृत-विकार, मसा, त्वचा-रोग, फोड़ा-फुंसी जैसी अनेक बीमारियों के उदय में अहं, घमंड निमित्त बनता है। हड्डियों से संबंधित अनेक रोग प्रकट हो सकते हैं। पक्षाघात रोग भी इसके अंतर्गत है।

माया—कपटपूर्ण मनोवृत्ति से कई बीमारियों का जन्म होता है, जैसे—अपाचन, गैस, कब्ज, उदर-विकार, शक्तिह्रास, हिस्टीरिया आदि।

लोभ—चर्बी मोटापा बढ़ाता है। नजला, अजीर्ण, आमवात आदि रोग।

कषाय विजय के उपाय—जीवन-संग्राम में आज तक हमने अनेक लड़ाइयां लड़ी हैं। उनमें कभी हार और कभी विजय हुई है। अब दृष्टि को जरा घुमाकर देखें। कषाय के संग्राम में कौन, कैसे विजयी होता है ? कौन, कैसे हार खाता है ?

शिष्य ने गुरु से पूछा—यह क्या तमाशा है ? इस बिल से निकलते हुए सर्प की ओर सभी बालक पत्थर और लाठियां फेंक रहे हैं जबकि सामने वाले पेड़ पर चढ़कर एक गिरगिट कितनी बार ऊपर-नीचे उतर रहा है। सबने देखा है पर इसे कोई नहीं सताता।

गुरु ने कहा—शिष्य ! गिरगिट निर्विष है। यह किसी को डराता नहीं है। इसी प्रकार हमारे मन में जब क्रोध, अहं, शिकायतें, वहम आदि वृत्तियां उठती हैं, तब हम भयावह बन जाते हैं। औरों के संक्लेश का कारण बन जाते हैं। इस भयावह मानसिकता से हटकर प्रशस्त विचारों की भूमिका पर आना कषाय विजय की साधना में प्रथम चरण है। रोग को उभारकर जैसे बाहर लाना जरूरी है—वैसे कषाय को उभारकर बाहर लाना जरूरी नहीं है। किंतु यदि स्वतः उभरकर आ जाए तो प्रशस्त भाव से चिकित्सा करना जरूरी है। आदतें कैसे सुधारी जाएं ? आदतों के सुधार की बात असंभव नहीं है। सर्वथा नहीं तो आंशिक परिवर्तन संभव है।

किसी भी बीमारी के प्रतिकार के पूर्व उसका यथार्थ ज्ञान होना आवश्यक है। जहर को जहर जानने के बाद जैसे बचाव प्रारंभ हो जाता है, वैसे ही वृत्तियों के जहर को जानने के बाद आकर्षण समाप्त हो जाता है। एक साथ या धीरे-धीरे मन को प्रशिक्षित करके त्यागा जा सकता है।

अतियोग—मन जितना चाहे उतना खुलकर भोग करना। मन जब भर जाए तब उसे त्याग देना। फिर वह विरक्त होकर स्वतः शांत हो जाएगा। आसक्ति को दबाओ मत। यह भी एक प्रयोग है। परंतु यह खतरनाक प्रयोग है। पहले कीचड़ में फंसो, फिर बाहर निकलो। क्या पता फिर निकलना संभव हो या नहीं ! अपना उपादान उस समय कैसा होगा ? निमित्त सहकारी होगा या नहीं ? अतः सबके लिए यह प्रयोग समान रूप से उपयोगी नहीं हो सकता।

तीसरा प्रयोग—विवेकपूर्वक आसक्ति का त्याग करना, खाते हुए न खाना अर्थात् तपस्वी होना।

सुइ सया वियड़भावे—साधक को सदा प्रकट भाव रहना चाहिए। जो अपनी आसक्ति कषायभाव को छुपाता है वह कभी विशुद्ध नहीं हो सकता। मायावी का स्वभाव कभी शांत नहीं होता। साधना में प्रदर्शन बाधक है।

परवशता—आदमी जब अपने स्वभाव से पूरा परेशान हो जाता है तब अपने आपको बदलने की बात सोचता है। आखिर ऐसे लोग कभी-कभी बदल ही जाते हैं।

कषाय क्यों पैदा होता है ?

1. प्रतिकूल परिस्थिति के कारण। 2. अहं पर चोट होने के कारण। 3. रूढ़ मान्यताओं पर प्रहार होने के कारण। 4. ममकार की प्रबलता के कारण। 5. उपादान की मलिनता के कारण।

कषाय शमन के उपाय—

1. वीर्य का ओजरूप में परिणमन। 2. आसनों का विशेष प्रयोग। 3. स्वर-परिवर्तन का प्रयोग। 4. आभ्यंतर कुंभक का अभ्यास। 5. आहार-परिवर्तन का प्रयोग। 6. संकल्प-साधना का प्रयोग। 7. उपशम-सामायिक की अनुप्रेक्षा।

❖

बादल चले जा रहे थे।

अनंत ने उनका सम्मान किया, क्योंकि वे बरसने के लिए जा रहे थे।

बादल चले आ रहे थे।

अनंत ने उन्हें छाती से चिपका लिया, क्योंकि वे बरस कर आ रहे थे।

—**आचार्यश्री महाप्रज्ञ**

विश्व महिला-दिवस

नारी के तीन रूप

आचार्यश्री तुलसी

नारी के मुख्यतः तीन रूप हैं—लक्ष्मी, सरस्वती और दुर्गा। परिवार को संस्कार-संपन्न बनाते समय वह लक्ष्मी का रूप धारण कर सकती है। संतति को शिक्षित करते समय वह सरस्वती बन सकती है और बुराइयों का ध्वंस करने के लिए वह सिंह पर आरूढ़ दुर्गा की भूमिका निभा सकती है। अपेक्षा एक ही है कि इसके तीनों रूपों को उपयोगी मानकर काम में लिया जाए।

स्त्री को सृजन का प्रतीक माना जाता है। मेरे अभिमत से यह ध्वंस के लिए भी एक विस्फोटक का काम कर सकती है। सद्संस्कारों का सृजन और बुराइयों का ध्वंस—ये दोनों ही काम न कानून-कायदों से हो सकते हैं, न भय से हो सकते हैं और न दंडशक्ति से हो सकते हैं। ऐसे बहुत कानून बने हुए हैं, जो प्रभावी होकर भी अकिंचित्कर हैं। भय का हथियार कच्चे दिमाग वाले बच्चों पर चल सकता है, अन्यथा वह भोंथरा हो जाता है। दंडशक्ति एक बार असरकारक हो सकती है। वातावरण में बदलाव आए बिना दंड के वार भी व्यर्थ चले जाते हैं। ऐसी स्थिति में नारीशक्ति का प्रयोग करके उसके परिणामों की मीमांसा की जा सकती है।

सद्संस्कारों का सृजन और बुराइयों का ध्वंस—ये दोनों ही काम न कानून-कायदों से हो सकते हैं, न भय से हो सकते हैं और न दंडशक्ति से हो सकते हैं। ऐसे बहुत कानून बने हुए हैं, जो प्रभावी होकर भी अकिंचित्कर हैं। भय का हथियार कच्चे दिमाग वाले बच्चों पर चल सकता है, अन्यथा वह भोंथरा हो जाता है। दंडशक्ति एक बार असरकारक हो सकती है। वातावरण में बदलाव आए बिना दंड के वार भी व्यर्थ चले जाते हैं। ऐसी स्थिति में नारीशक्ति का प्रयोग करके उसके परिणामों की मीमांसा की जा सकती है।

लेकिन विगत कुछ वर्षों से भारतीय महिलाओं में एक नई संस्कृति अपने पांव फैला रही है। उच्च एवं मध्यम वर्ग की महिलाएं उस संस्कृति को उच्चस्तरीय जीवनशैली का अंग मान रही हैं। उसकी पहचान किटी या किट्टी पार्टी के नाम से की जा सकती है। किट्टी पार्टी की सदस्याएं पार्टी द्वारा निर्धारित अर्थराशि देती हैं, स्नेहमिलन करती हैं, तंबोला, तास, संगीत आदि मनोरंजक कार्यक्रमों का आयोजन करती हैं, गपशप करती हैं और चाय-नाश्ते के साथ पार्टी का समापन करती हैं।

आजकल तो ये किट्टी पार्टियां धनाढ्य महिलाओं का एक चोंचला बनकर रह गई हैं। वे उस पार्टी को मनोरंजन अथवा समय पास करने का साधन मानकर उसी रूप में उसका उपयोग करती हैं। संपन्न परिवारों की महिलाएं, जिनको न खाना बनाने की अपेक्षा रहती है और न किसी अन्य घरेलू काम में हाथ बंटाने की आवश्यकता है, पूरे दिन करें क्या? पारिवारिक जीवन में इतने बिखराव और इतनी टूटन आती जा रही है कि जीवन में बढ़ते जा रहे शून्य को भरने की उम्मीद ही समाप्त हो रही है। ऐसी स्थिति में क्लब, रेस्तरां या किट्टी पार्टी जैसे माध्यमों से शून्य भरने का उपाय खोजा जाता है। यह आधुनिक जीवन-शैली की देन है और विशेष रूप से शहरी महिलाएं इससे प्रभावित हैं।

फ्लेट संस्कृति में पलने वाली, पति के ऑफिस और बच्चों के स्कूल जाने के बाद घर में अकेली बैठी महिला बोरियत का अनुभव करती है। कुछ तथाकथित उच्च घरानों की महिलाएं तो सिगरेट और शराब से भी परहेज नहीं रखतीं। गपशप,

मनोरंजन और भोजन के अतिरिक्त उस पार्टी से किसी भी महिला को कौन-सा लाभ होता है, विचारणीय विषय है। काश! ऐसी महिलाएं समाज में सामाजिक, सांस्कृतिक एवं धार्मिक चेतना जगाने के लिए अपने समय का उपयोग करतीं तो उन्हें अतिरिक्त आत्मतोष मिलता और महिलाओं की सृजनात्मक क्षमताओं से समाज लाभान्वित होता।

उच्चवर्गीय महिलाओं की देखादेखी आज साधारण परिवारों की महिलाएं भी इस प्रतिस्पर्धा में अपनी भागीदारी दे रही हैं। आधुनिक कहलाने की होड़ में घर और बच्चों की उपेक्षाकर इस नई संस्कृति को प्रोत्साहन देने वाली महिलाएं क्या अपने हाथों से अपने ही पांवों पर कुल्हाड़ी नहीं चला रहीं? उनका यह निरुद्देश्य उन्मुक्त आचरण उनकी बहू-बेटियों को कहां तक ले जाएगा? क्या इस प्रश्न पर कभी उनका ध्यान केंद्रित होता है? समय की गति बहुत तीव्र है। महिलाएं एक बार तटस्थ भाव से ऐसी प्रवृत्तियों की समीक्षा करें। पारिवारिक चरित्र को उदात्त बनाए रखने के लिए अपनी वृत्तियों का परिष्कार करें। समय और शक्ति का सम्यक् नियोजन करने के लिए परिवार और समाज के लिए सार्थक गतिविधियों पर ध्यान दें, यह आवश्यक है।

सिक्के का एक दूसरा पहलू भी हमारे सामने है। आधी दुनिया का प्रतिनिधित्व करने वाली स्त्री कितनी उपेक्षित, शोषित और प्रताड़ित होती रही है, यह भी किसी से अज्ञात नहीं है। पितृसत्तात्मक समाज में स्त्री सदा दोयम दर्जे की जिंदगी बसर करती है—यह भी एक पक्ष है। विकसित और विकासशील—सभी देशों में स्त्री को विवाद के घेरे में रखा गया है। समाज व्यवस्था हो या राज्य व्यवस्था, व्यवसाय का क्षेत्र हो या शिक्षा का, परिवार की पंचायत हो या धर्म का मंच, कुछ अपवादों को छोड़कर स्त्री की क्षमताओं का उचित मूल्यांकन और सही उपयोग नहीं हो पाता है। मेरे मन में स्त्री जाति के प्रति सहज ही ऊंची धारणा है। इसकी शक्ति का सदुपयोग हो तो परिवार और समाज को नई चेतना प्राप्त हो सकती है।

इस दृष्टि से अणुव्रत के मंच से जो महिलाएं काम करती हैं—उस ओर ध्यान जाना चाहिए। अनेक प्रसंगों में उनके शौर्य, साहस और सूझबूझ का परिचय मिलता है। पर उनके दायरे अभी भी सीमित हैं। जब तक उनको व्यापक कार्यक्षेत्र नहीं दिया जाएगा, उनका कर्तृत्व सामने कैसे आएगा? इस समय महिलाओं के सामने दो रास्ते हैं—आधुनिकता की अंधी दौड़ में सम्मिलित होना और अपनी शक्ति को सत्संस्कारों के निर्माण व असत्संस्कारों के ध्वंस में नियोजित करना। पहला रास्ता न महिला जाति के लिए हितकर है और न समाज के लिए। महिलाओं को अपनी शक्ति का सदुपयोग करना है तो दूसरा रास्ता ही चुनना होगा।

भारतीय संस्कृति में व्यसनमुक्त जीवन को आदर्श माना गया है। शराब एक व्यसन है। यह बहुत पुराना व्यसन है। सभ्यता, संस्कृति, परिवार और शरीर तक को चौपट करने वाला है यह व्यसन। इसकी जड़ें काटने के लिए कई आंदोलन और अभियान चले, आज भी चल रहे हैं, पर सफलता हासिल नहीं हुई। काश! स्त्री का दुर्गारूप मुखर हो और शराब के विरोध में संघर्ष छिड़े। काश! वह एक तूफानी नदी का रूप धारण करे और आसपास की बुराइयों का सारा कूड़ा-करकट बहाकर ले जाए।

कुछ प्रदेशों की महिलाओं ने समाज और सरकार को अपने दुर्गारूप का परिचय देने में सफलता प्राप्त की है। आंध्र प्रदेश की महिलाओं ने शराब के खिलाफ एक आंदोलन शुरू किया। इन महिलाओं में न तो अधिक पढ़ी-लिखी महिलाएं थीं और न आर्थिक दृष्टि से बहुत संपन्न घरानों की महिलाएं। अनपढ़, अशिक्षित और गरीब महिलाओं ने संगठित रूप में शराब संस्कृति पर जो धावा बोला, शराब की दूकानें बंद हो गईं। उन्होंने शराब के ठेकों की नीलामियों पर भी रोक लगा दी है। उनका हौसला और काम करने का तरीका देखकर कुछ समाज-सुधारक, कुछ युवा और कुछ छात्र भी उनके आंदोलन को सहयोग देने आगे आए। महिलाओं ने राज्य में पूर्ण शराबबंदी की मांग की।

एक शराब ही नहीं, मादक और नशीली वस्तुओं का प्रचलन आज जिस गति से बढ़ता जा रहा है, चिंता का विषय है। स्वस्थ जीवन-शैली में घुसपैठ करने वाले इन पदार्थों को देश-निकाला देने के लिए केवल आंध्र की महिलाओं के संघर्ष से क्या होगा? देश-भर की महिलाएं जागें। सामाजिक और राष्ट्रीय बुराइयों के खिलाफ अपनी शक्ति को झोंक दें। मेरा यह दृढ़ विश्वास है कि नारीशक्ति स्थाई रूप से यह काम अपने हाथ में ले तो अनेक प्रकार की बुराइयों के अस्तित्व को चुनौती दी जा सकती है। इसके लिए किसी एक सीताम्मा और रोसम्मा से काम नहीं चलेगा। देश-भर की अम्माओं को एकनिष्ठ हो दुर्गा बनकर काम करना होगा। ❖

अहिंसा : चेतना का पुनराविष्कार

समणी (डॉ.) निर्वाणप्रज्ञा

वर्तमान सभ्यता की स्वार्थ-लोलुपता और प्रकृति के प्रति शोषणात्मक दृष्टि ने अहिंसा के महत्त्व को और उजागर कर दिया है। प्रकृति का दोहन और शोषण इतना अधिक हो चुका है और हमारी भोगलिप्सा ने जनसंख्या की वृद्धि में इतना अधिक योगदान दिया है कि पर्यावरण प्रदूषित हो चुका है तथा पारिस्थितिकी असंतुलन उत्पन्न हो गया है। यह सब प्रकृति के प्रति हिंसा नहीं तो और क्या है ? प्रकृति की हिंसा से मानव-अस्तित्व अप्रभावित नहीं रह सकता। आज पर्यावरण की समस्या, मानव-अस्तित्व की समस्या बन गई है। यदि पर्यावरण के प्रदूषण को और प्रकृति के असंतुलन को नहीं रोका गया तो इसमें तनिक भी संदेह नहीं है कि एक दिन बिना किसी अस्त्र-शस्त्र के ही पृथ्वी के संपूर्ण प्राणियों का विनाश हो जाएगा।

क्या अहिंसा ईश्वरीय शक्ति है अथवा मानव व्यक्तित्व का ही यह एक अंग है ? क्या अहिंसा दैवीय वृत्ति के रूप में और हिंसा आसुरी वृत्ति के रूप में मनुष्य को प्राप्त होती है तथा सद्-असद् कार्यरूप में उनकी अभिव्यक्ति होती है ? वस्तुस्थिति यह है कि अक्रोध, अस्तेय, अपरिग्रह, अभय, अस्वार्थ, अपीड़न, अकाम और अहत्या इत्यादि प्रवृत्तियों का नाम ही अहिंसा है। भावात्मक दृष्टि से अहिंसा के लिए यह कहा जा सकता है कि वह करूणा, मानवता, पौरुष, सरलता, नम्रता, शांति, हृदय की विशालता, दया, मैत्री, सेवा, त्याग, साहस, आस्था, विवेक, स्पष्टता, दृष्टि की पवित्रता, भद्रता, क्षमा, सहिष्णुता, सत्यवादिता का पर्याय है। अहिंसा का विचार तो मन में उत्पन्न होता है, किंतु उसका प्रकटीकरण मानव के विभिन्न प्रकार के व्यवहारों में होता है। विचार और व्यवहार दोनों की अपनी अलग-अलग विशेषताएं एवं सीमाएं हैं। विचार अमूर्त है, परंतु व्यवहार मूर्त है। विचार अपने आप में पूर्ण होता है जबकि व्यवहार भिन्न-भिन्न परिस्थितियों पर निर्भर होने के कारण अपने आप में अपूर्ण होता है। सामाजिक जीवन में अहिंसा के मानसिक और व्यावहारिक दोनों रूपों का समन्वय आवश्यक है। अहिंसा कोई आपातकालीन व्यवहार या दर्शन नहीं है। यह जीवन और चिंतन की सामान्य प्रक्रिया है, जिससे समता, न्याय, अशोषण और स्वतंत्रता पर आधारित समाज का निर्माण हो सकता है।

गांधी ने ऐसे ही अहिंसक समाज की कल्पना की थी, जिसमें न कोई गरीब हो, न कोई अमीर, न कोई शोषक हो और न कोई शोषित। जिसमें सभी लोग छुआ-छूत, जाति और ऊंच-नीच की भेदरेखा से ऊपर उठकर एक-दूसरे का सहयोग करें। इसके साथ ही हर नागरिक को यह महसूस होता रहे कि यह मेरा देश है, यहां मेरी बात को सुना जाता है। स्त्रियों को समानता का दर्जा प्राप्त हो और समाज में उनका आदर हो। स्पष्ट है कि गांधी अहिंसा को व्यवस्थामूलक बनाना चाहते थे। अहिंसक व्यवस्था में सिद्धांतविहीन राजनीति एवं अर्थनीति, बिना श्रम के धन, विवेकरहित भोग, चरित्रहीन शिक्षा, नैतिकता-शून्य व्यवसाय, समर्पणरहित पूजा और मानवताविहीन विज्ञान के लिए कोई स्थान नहीं होता। समाज की यह सर्वोच्च अवस्था है जो विकेंद्रित राजनीति, विकेंद्रित अर्थव्यवस्था तथा तंत्रमुक्ति में ही संभव है। अतः अहिंसा का अर्थ है अशोषण, विकेंद्रीकरण और तंत्रंमुक्ति।

जिस राज्य में पूर्वाग्रह, अज्ञान, अंधविश्वास, सत्ता के एकाधिकार और अपहरण का अभाव हो तथा स्वतंत्रता, धार्मिक-सहिष्णुता या धर्म निरपेक्षता, अल्पतम की सुरक्षा, साधनों की सुलभता, कम व्यय में उचित न्याय द्वारा सच्ची और अहिंसक व्यवस्था हो उसे अहिंसक राज्य कहा जा सकता है।

निस्संदेह मानव-निर्मित अस्त्र-शस्त्रों की अपेक्षा अहिंसा की शक्ति कई गुना अधिक व अजेय है। प्रेम के सुविचारित प्रयोग से स्थाई शांति का निर्माण किया जा सकता है। गांधीजी ने कहा—हिंसा-प्रिय व्यक्ति जब किसी कार्य को करता है तो

उसके प्रभाव का तुरंत पता लगता है, परंतु वह अस्थाई होता है। हिंसा के पास काम करने के लिए स्थूल शस्त्रास्त्र होते हैं जबकि अहिंसा अपने पास ऐसे साधन नहीं रखती है। अहिंसा के पास सूक्ष्म अजेय शक्ति होती है। इसीलिए एक अहिंसक व्यक्ति गुफा में बैठा हुआ ही सकल विश्व को प्रभावित कर सकता है। अहिंसक प्रतिरोध के द्वारा हिंसक-से-हिंसक व्यक्ति का हृदय-परिवर्तन कर उसे आसानी से झुकाया जा सकता है। हिंसक और अहिंसक के कार्यक्षेत्र में यही अंतर है कि हिंसक अपने स्थूल शस्त्रों के द्वारा अस्थाई शांति लाने का प्रयास करता है जबकि अहिंसक प्रेम और सहयोग के द्वारा स्थाई शांति लाने का प्रयास करता है।

आज जब मानव जाति हिंसा के चरमोत्कर्ष पर है, ऐसे समय में अहिंसा ही उसकी सुरक्षा का एकमात्र उपाय है। यदि मानव को महाविनाश में विलीन नहीं होना है तो अहिंसा के चिंतन और व्यवहार का उसे पुनःआविष्कार करना होगा। जिस बुद्धि ने अणु की सूक्ष्मशक्ति का विघटन किया है, वही बुद्धि अहिंसा की जीवनी शक्ति को समझने की शक्ति रखती है। मानव कल्याण में आस्था और अहिंसा के प्रयत्नों के विकास की आज अत्यंत आवश्यकता है। हिंसा भय का मूल है। अहिंसा अभय की अनंत संभवानाएं उद्घाटित करती है। हिंसा निर्बल का क्षोभ है और अहिंसा बली की धीरवृत्ति है—जिसके आदि, अंत और मध्य में शांति, प्रेम और कैवल्य का अमृत भरा है। बिना अहिंसा के समाज रह ही नहीं सकता। यहां तक कि सेना आदि हिंसक संगठनों को भी अहिंसा का सहारा लेना पड़ता है।

अहिंसा मानवता का मूल एवं जीवनधर्म है। अहिंसा द्वारा ही हृदय परिवर्तन संभव होता है। यह मारने का सिद्धांत नहीं, सुधारने का सिद्धांत है। यह संसार के विनाश का नहीं, कल्याण का साधन है एवं इससे मनोवैज्ञानिक रीति से परिवर्तन किया जा सकता है और अपराध की भावनाओं को मिटाया जा सकता है। अहिंसा से सबके कल्याण और उन्नति की भावना उत्पन्न होती है। इसके आचरण से निर्भीकता, स्पष्टता, स्वतंत्रता और सत्यता बढ़ती है। अहिंसा से ही विश्वास, आत्मीयता, पारस्परिक प्रेम, निष्ठा आदि गुण व्यक्त होते हैं। अहंकार, दंभ, अविश्वास, असहयोग आदि का अंत भी अहिंसा द्वारा संभव है। यह ऐसा साधन है जो बड़े से बड़े साध्य को सिद्ध कर सकता है। एकता की भावना अहिंसा का ही रूप है। अहिंसा एक ऐसा शस्त्र है जिसके द्वारा बिना एक बूंद रक्त बहाए वर्गहीन समाज का आदर्श प्रस्तुत किया जा सकता है। अहिंसा का लक्ष्य ही है कि वर्गभेद या जातिभेद से ऊपर उठकर समाज का प्रत्येक सदस्य अन्य के साथ शिष्टता और मानवता का व्यवहार करे। छल-कपट या इनसे होने वाली छीना-झपटी को अहिंसा द्वारा ही दूर किया जा सकता है। वस्तुतः अहिंसा में ऐसी अद्भुत शक्ति है जिसके द्वारा आर्थिक, सामाजिक और राजनीतिक समस्याओं को सरलतापूर्वक समाहित किया जा सकता है।

अहिंसा की उपयोगिता एवं अनिवार्यता को नकारा नहीं जा सकता, चाहे इस क्षेत्र में शोध, प्रयोग, शिक्षण एवं प्रशिक्षण बहुत कम हुआ हो। हिंसात्मक साधनों पर महाशक्तियों एवं देश के कर्णधारों ने जितना परिश्रम किया, उतना यदि अहिंसा के शिक्षण एवं प्रशिक्षण पर किया होता तो विश्व को न हिरोशिमा व नागासाकी का भयावह दृश्य देखना पड़ता और न खाड़ी युद्ध की विभीषिका। आशय यह है कि विज्ञान के विकास के साथ ही विश्व-विनाश की तैयारियां हो चुकी हैं। आज ऐसे अस्त्र-शस्त्रों का निर्माण हो चुका है जो एक साथ संपूर्ण विश्व को कई बार विनष्ट कर सकते हैं। हिंसा का भयावह रूप बढ़ता जा रहा है, ऐसी स्थिति में अहिंसा के शिक्षण एवं प्रशिक्षण, शोध, प्रयोग और संगठन की ओर ध्यान देना अत्यंत आवश्यक है। यदि सरकारें एवं समाज के जिम्मेदार लोग इस ओर अपनी शक्ति और श्रम को लगाएं तो विश्व-शांति का स्वप्न साकार हो सकता है।

वस्तुतः अहिंसा के प्रशिक्षण का लक्ष्य नागरिकों को नई विश्व-व्यवस्था के लिए तैयार करना है, उनकी सार्वभौम वृत्ति का विकास करना है ताकि विश्व में स्थाई सुख-शांति और प्रगति की संस्कृति बन सके। अहिंसा का क्षेत्र व्यक्ति और समाज ही नहीं है, अहिंसा प्रकृति का भी विषय है। हमारे प्राचीन ऋषि-मुनियों ने जंगल, पहाड़, नदी, वृक्ष, आकाश सबके प्रति अपनी श्रद्धा व्यक्त की थी और विश्व कल्याण की कामना की थी। जैन दार्शनिकों ने तो बहुत सूक्ष्मता से स्पष्ट शब्दों में प्रकृति के अणु-अणु में जीवन का निवास देखा था और अपनी अहिंसक नीति का विस्तार मानवों तक ही सीमित न रखकर इन प्राकृतिक जीवों के प्रति भी आत्मौपम्य की भावना के विकास और आचरण का उपदेश दिया था। यह सब प्रकृति के प्रति अहिंसा के विचार के अतिरिक्त और कुछ भी नहीं है। वर्तमान सभ्यता की स्वार्थलोलुपता और प्रकृति के प्रति शोषणात्मक दृष्टि ने अहिंसा के महत्त्व को और उजागर कर दिया है। प्रकृति का दोहन और शोषण इतना अधिक हो चुका है और हमारी भोगलिप्सा ने जनसंख्या की वृद्धि में इतना अधिक योगदान दिया है कि पर्यावरण प्रदूषित हो चुका है तथा पारिस्थितिकी असंतुलन उत्पन्न हो गया है। यह सब प्रकृति के प्रति हिंसा नहीं तो और क्या है ? प्रकृति की हिंसा से मानव-अस्तित्व अप्रभावित नहीं रह सकता। आज पर्यावरण की समस्या, मानव-अस्तित्व की समस्या बन गई है। यदि पर्यावरण के प्रदूषण को और प्रकृति के असंतुलन को नहीं रोका गया तो

इसमें तनिक भी संदेह नहीं है कि एक दिन बिना किसी अस्त्र-शस्त्र के ही पृथ्वी के संपूर्ण प्राणियों का विनाश हो जाएगा।

इसलिए आज आवश्यकता है ऐसे विचार और प्रयत्नों की जिनके द्वारा मनुष्य और प्रकृति के संबंधों को सही रूप में जाना जा सके।

विश्व का रचनात्मक चिंतन आज भौतिकवाद और आतंकवाद के विरुद्ध जागरूक होकर शांति के नए आयाम खोज रहा है। वर्तमान में अपसंस्कृति की शिकार एक ऐसी विचारधारा, जो हिंसा, युद्ध, प्रतिशोध, सत्ता और अधिकार की अंतहीन महत्त्वाकांक्षा को मनुष्य के अस्तित्व के लिए आवश्यक मानती है वह भी अहिंसा, समता, मैत्री और सह-अस्तित्व को सामाजिक-परिवर्तन, अहिंसक-समाज, विश्वशांति और सार्वभौम मानवीय परिप्रेक्ष्य में स्वीकार कर रही है। आज सभी देशों, वर्गों और समाजों के प्रबुद्ध चिंतक यह स्वीकार करते हैं कि स्थाई विश्वशांति के लिए आमूल-चूल राजनीतिक, सामाजिक, आर्थिक व सांस्कृतिक क्रांति की अपरिहार्य आवश्यकता है और वह केवल अहिंसा से संभव है।

किसी विज्ञान, कला और कौशल के शिक्षण व प्रशिक्षण के पीछे कोई-न-कोई भूमिका अवश्य रहती है। इसी प्रकार अहिंसा के संदर्भ में यह ज्ञातव्य है कि अहिंसा न केवल मानव का परम धर्म है अपितु वर्तमान सभ्यता और संस्कृति के संकटकाल में एक महत्त्वपूर्ण ज्ञान और मूल्य है जिसकी साधना अनिवार्य है। शास्त्रों ने ही नहीं, अनुभव ने भी यह सिद्ध कर दिया है कि व्यक्ति और समाज को जीवन की समस्याओं का निदान हिंसा और हिंसक साधनों के अवलंबन में नहीं खोजना चाहिए। अतः विश्व मानवता के सामने एक ही विकल्प है—वह अहिंसा है।

किंतु प्रश्न उत्पन्न होता है कि अहिंसा की इतनी महत्ता व आवश्यकता होते हुए भी हमारा प्रयत्न हिंसा के लिए हो रहा है। शस्त्रों का निर्माण व उनका प्रशिक्षण आदि मानव चिंतन की विसंगति का स्पष्ट उदाहरण है। अहिंसा के संदर्भ में यूनेस्को की प्रस्तावना—'युद्ध मनुष्यों के मस्तिष्क में प्रारंभ होते हैं, अतः मनुष्यों के मस्तिष्कों में ही शांति की सुरक्षा के लिए व्यवस्था की जानी चाहिए'—से उक्त प्रश्न का उत्तर प्राप्त किया जा सकता है और प्रशिक्षण की अनिवार्यता स्वतः सिद्ध हो जाती है।

अहिंसा-शास्त्रियों ने अहिंसा के शिक्षण-प्रशिक्षण पर अत्यधिक बल दिया है। गांधी जब अहिंसा के प्रशिक्षण की बात करते हैं तो उनका सीधा संबंध शांति-सैनिकों और सत्याग्रहियों के प्रशिक्षण से होता है। जो समाज की हिंसक परिस्थितियों में अहिंसक तरीके से शांति स्थापित कर सकें। इस संदर्भ में आचार्यश्री महाप्रज्ञजी व्यक्ति की चेतना के रूपांतरण की बात करते हैं। उनका यह मानना है कि सारी हिंसाओं की जड़ हमारी चेतना में सन्निहित है। इसलिए प्रशिक्षण द्वारा चेतना को बदला जाए। यह विचार उनके विशुद्ध आध्यात्मिक एवं वैयक्तिक चिंतन का परिचायक है। गांधी सामाजिक परिप्रेक्ष्य में अहिंसा के प्रशिक्षण की बात करते हैं, पर गांधी का यह आशय कभी नहीं रहा कि बिना हृदय-परिवर्तन या चेतना को बदले एकाएक समाज में परिवर्तन हो जाएगा। दूसरी ओर आचार्यश्री महाप्रज्ञजी जब अहिंसा-प्रशिक्षण द्वारा चेतना को बदलने की बात करते हैं तो इससे उनका कदापि यह आशय नहीं है कि वे समाज में व्याप्त हिंसा को समाप्त करना नहीं चाहते हैं। वस्तुतः अहिंसा-प्रशिक्षण में चेतना का रूपांतरण और हिंसा से जूझने की कला दोनों अनिवार्य तत्त्व हैं। दोनों का मणिकांचन योग ही अहिंसक व्यक्तित्व का निर्माण कर सकता है। सच्चे अहिंसक व्यक्तियों से ही अहिंसक समाज की संरचना संभव है। विश्व में जितनी भी क्रांतियां हुईं उनमें दृष्टिकोण या विचार-परिवर्तन की अहम भूमिका रही है। जैन दर्शन में दृष्टिकोण या विचार परिवर्तन या भाव परिवर्तन की एक विशिष्ट वैज्ञानिक प्रायोगिक प्रक्रिया है—अनुप्रेक्षा। अनुप्रेक्षा के द्वारा मन में उठने वाली हिंसा की तरंगों को समाप्त कर अहिंसा की भावना को तरंगित किया जा सकता है।

व्यक्तित्व रूपांतरण के लिए अनुप्रेक्षा के प्रयोग अपनी महत्त्वपूर्ण भूमिका अदा कर सकते हैं। इस प्रयोग में मस्तिष्क और पूरे शरीर को शिथिल कर सुझाव दिए जाते हैं। साथ-साथ रंगों का ध्यान भी किया जाता है। ध्वनि और रंग ये दोनों अचेतन या अवचेतन मन को प्रभावित करते हैं। इससे पुराने संस्कार, अर्जित आदतें समाप्त हो जाती हैं। यह प्रयोग संकल्पशक्ति, आत्मविश्वास और आत्मनिरीक्षण की क्षमता को बढ़ाता है। भावना या अनुप्रेक्षा एक वैज्ञानिक प्रक्रिया है। इस प्रकार भावना का अर्थ है—ज्ञान-तंतुओं तथा कोशिकाओं को अंकित करना। इसकी एक विशेष प्रक्रिया है कि कायोत्सर्ग के द्वारा शरीर को शिथिल करना व चैतन्य केंद्रों की प्रेक्षा कर नाड़ी ग्रंथितंत्र में संतुलन स्थापित करना। आंतरिक परिवर्तन की प्रक्रिया से श्रेष्ठ व्यक्तित्व का निर्माण होता है।

जीवन के बाह्य पक्ष की संपूर्ति पदार्थ के द्वारा होती है तथा आंतरिक पक्ष की पूर्ति जैविक रसायनों, नाड़ी रसायनों, तंत्रीय प्रकंपन में कर्म के स्पंदनों और चेतना की निर्मलता द्वारा होती है। वस्तुतः अनुप्रेक्षा ही इन सबके समीकरण की प्रक्रिया है। यह प्रायोगिक प्रक्रिया है। व्यवहार के स्तर पर यह प्रयुक्त एवं परीक्षित है। अतः अनुप्रेक्षा का शिक्षण-प्रशिक्षण व्यक्तित्व के संतुलित विकास का हेतु हो सकता है। ❖

स्वाध्याय : चेतना विकास का सूत्र

मुनि मदनकुमार

अज्ञान और व्यथा का सहसंबंध है, इसलिए अज्ञानी व्यक्ति व्यथा का अनुभव करे तो आश्चर्य नहीं है। अज्ञानी दुख भोगता है, यह एक सचाई है। ज्ञानी भुगतै ज्ञान स्यूं, मूरख भुगतै रोय—यह इस सचाई की अभिव्यक्ति है। जब तक श्रेय और शुभ का अवबोध नहीं होता है, तब तक दृष्टि का परिष्कार और आचरण का परिमार्जन भी नहीं हो पाता है। स्वाध्याय से व्यक्ति कल्याण और श्रेय को जान पाता है, इसलिए स्वाध्याय दुख-विमोचन का अमोघ साधन है। स्वाध्याय से ज्ञानोपलब्धि होती है। ज्ञानाराधना से अज्ञान का वलय टूटना प्रारंभ हो जाता है। इतना ही नहीं, ज्ञानी व्यक्ति चित्त को एकाग्र करने का सामर्थ्य अर्जित करता है। स्वाध्याय से ही व्यक्ति यह भलीभांति जान पाता है कि मनुष्य जीवन बहुत दुर्लभ है।

ज्ञान इंद्रिय सापेक्ष भी होता है और इंद्रिय निरपेक्ष भी। ज्ञान चेतना के जागरण में स्वाध्याय और ध्यान का महत्त्वपूर्ण योगदान है। अतींद्रिय ज्ञान के अधिकारी अल्प लोग ही होते हैं। अधिकांश लोग इंद्रिय ज्ञान की चेतना में रहते हैं। इंद्रिय ज्ञान को यशस्वी और तेजस्वी बनाने के लिए स्वाध्याय एक परम तत्त्व है। स्वाध्याय की शक्ति से ही जयाचार्य, तुलसी और महाप्रज्ञ लघु वय में दीक्षित होकर विश्रुत और महान जैनाचार्य के रूप में प्रतिष्ठित हो सके। स्वाध्याय के बिना चेतना का विकास संभव नहीं है।

ध्यान और स्वाध्याय आध्यात्मिक विकास के दो ब्रह्मास्त्र हैं। स्वाध्याय में तल्लीनता बढ़ने पर एकाग्रता और निर्मलता के साथ ज्ञान-वृद्धि भी सहज संभव है। ध्यान साधना से चंचलता-निरोध के साथ ज्ञान-चेतना विकसित होती है। ये दोनों ही तत्त्व आनंद और शक्ति संवर्द्धन के महान स्रोत हैं। साध्य-संप्राप्ति और आत्मलीनता के लिए दोनों की परिपूर्ण उपादेयता है। तात्त्विक दृष्टि से निर्जरा के बारह प्रकारों में स्वाध्याय और ध्यान को अलग-अलग रखा गया है, किंतु दोनों ही निर्जरा के अद्भुत साधन हैं। स्वाध्याय और ध्यान से इंद्रिय-निग्रह होता है, जिससे अतीतकृत दोष की विशोधि और तत्संबंधी नए कर्म का संवरण होता है। व्यक्ति की अंतर्मुखता बढ़ती है और उपशम-सुख की अभिवृद्धि होती है। आत्म-साक्षात्कार और सत्य-संस्पर्श के लिए ध्यान और स्वाध्याय का आलंबन जरूरी है। प्रज्ञा-जागरण के ये दोनों समर्थ साधन आगम-साहित्य में निर्दिष्ट हैं।

विश्व के रंगमंच पर दो शक्तियां सर्वाधिक प्रभावशाली हैं—वित्त की शक्ति और विचार की शक्ति। वर्तमान युग में इन दोनों का मूल्य निर्विवाद है। जिसके पास विचार का सौष्ठव है, वह भी विश्व का समृद्ध व्यक्ति है। जैसे अन्न के साथ मन का संबंध है वैसे ही विचार की शक्ति का हमारे अंतरंग व्यक्तित्व के साथ संबंध है। व्यक्तित्व-निर्माण में स्वाध्याय-चेतना का बहुमूल्य योगदान है।

नीतिकार की अभिप्रेरणा है कि व्यक्ति को सौ कार्य छोड़कर के भी भोजन करना चाहिए, हजार कार्य छोड़कर के भी स्नान करना चाहिए, लाख कार्य छोड़कर के भी दान देना चाहिए और करोड़ कार्य छोड़कर के भी परमात्मा का ध्यान करना चाहिए। नीतिकार ने तो इतना कहकर विराम ले लिया है, किंतु मैं अनुभव करता हूं कि व्यक्ति को करोड़ाधिक कार्य छोड़कर के भी स्वाध्याय में रत होना चाहिए।

शतं विहाय भोक्तव्यं, सहस्रं स्नानमाचरेत्।
लक्षं विहाय दातव्यं, कोटिं त्यक्त्वा हरिं भजेत्।।

विश्व के रंगमंच पर दो शक्तियां सर्वाधिक प्रभावशाली हैं—वित्त की शक्ति और विचार की शक्ति। वर्तमान युग में इन दोनों का मूल्य निर्विवाद है। जिसके पास विचार का सौष्ठव है, वह भी विश्व का समृद्ध व्यक्ति है। जैसे अन्न के साथ मन का संबंध है वैसे ही विचार की शक्ति का हमारे अंतरंग व्यक्तित्व के साथ संबंध है। व्यक्तित्व-निर्माण में स्वाध्याय-चेतना का बहुमूल्य योगदान है। कुछ लोग सत्साहित्य का संग्रह बहुत कर लेते हैं, किंतु स्वाध्याय नहीं करते। केवल अच्छे ग्रंथों के संग्रह से त्राण कैसे मिलेगा? स्वाध्याय के बिना मन की स्वस्थता और पौष्टिकता कैसे संभव होगी? आजकल हर नए घर और संभ्रांत परिवार में सजावट की परंपरा जन्म ले चुकी है। जिस घर में सद्साहित्य नहीं है, वह घर सचमुच शून्यगृह है। जैसे नंदन के प्रसव बिना घर सूना लगता है, वैसे ही सद्साहित्य के बिना भी घर सूना लगना चाहिए। जैसे बच्चों की क्रीड़ा गृहांगन में चहल-पहल भर देती है, वैसे ही स्वाध्याय की प्रवृत्ति चेतना में आनंद और उल्लास को भर देती है। स्वाध्याय की शक्ति से ही व्यक्ति धर्म को जानता है और दूसरों को आत्माभिमुख बनाने का सामर्थ्य अर्जित करता है। उपदेश, प्रतिबोध और हृदय-परिवर्तन की समग्र प्रक्रिया स्वाध्याय के अंतर्गत निहित है। स्वाध्याय से मनुष्य ने इस सचाई को जाना और अनुभव किया कि लक्ष्मी, जीवन और यौवन—तीनों ही अस्थिर और विनश्वर हैं। इसी अभिप्रेरणा को संस्कृत कवि ने सुंदर अभिव्यक्ति दी है—

चला लक्ष्मी चला प्राणाः चले जीवित योवने।
चलाचले च संसारे, धर्म एको हि निश्चलः।।

स्वाध्याय कोरा शब्द-ज्ञान नहीं, किंतु अंतर्हृदय को छूने वाला भगीरथ प्रयत्न है। स्वाध्याय का प्रधान उद्देश्य आत्म-निर्जरा ही अभीष्ट है। यह आत्मोत्कर्ष का महान साधन है। प्रासंगिक लाभ स्वतः ही प्राप्त होते हैं, उनके लिए किसी प्रयत्न की आवश्यकता नहीं है। स्वाध्याय तप है, क्योंकि इससे योग और लेश्या की विशुद्धि संभव होती है। इसे सरल और आनंददायी तप की कोटि में रखना बहुत युक्तिसम्मत है। जो मिला वह पढ़ लेना स्वाध्याय नहीं है। केवल श्रुत और सत्साहित्य का अध्ययन ही स्वाध्याय के अंतर्गत है। स्वाध्याय का प्रयोजन विद्यार्जन भी है। रोटी और आटे की तरह विनय और विद्या का संबंध है। विनय के बिना विद्या की प्राप्ति संभव नहीं है। आत्म-विद्या के क्षेत्र में तो विनय का अतिरिक्त मूल्य है। विद्या आने पर अहंकार न आए, तब ही विद्या और शिक्षा से निश्रेयस् की प्राप्ति संभव है। गणाधिपति श्री तुलसी ने पंचसूत्रम् में बहुत सारगर्भित शब्दों में कहा है कि ज्ञान अहंकार का हरण करने वाला है, यदि ज्ञान-प्राप्ति के पश्चात् अहंकार आए तब तो यह प्रयत्न वैसा ही है जैसा औषधि लेने पर रोग बढ़ जाए। वैसे व्यक्ति की चिकित्सा कैसे की जाए? वैसे व्यक्ति को गुरु ज्ञान-दान कैसे करे? ज्ञान शब्दों का विन्यास नहीं, बल्कि शब्द से अर्थ की यात्रा है, जो व्यक्ति को आलोक से परिपूर्ण बना देती है।

सारे विश्व के लिए ऊर्जा का स्रोत सूर्य है और ज्ञान के स्रोत जिनाधिपति तीर्थंकर हैं। तीर्थंकरदेव प्राणीमात्र के कल्याण के लिए धर्मोपदेश करते हैं, यह स्वाध्याय का सर्वोत्कृष्ट उपक्रम है। आचार्य और मुनि भी इसी धर्मोपदेश की स्वस्थ परंपरा का अनुसरण कर हलुकर्मी जीवों का उद्धार करते हैं। आगम-साहित्य में स्वाध्याय के पांच प्रकारों का उल्लेख मिलता है, जिनमें पहला प्रकार वाचना है। गुरु शिष्य और श्रोता को आगम की वाचना देते हैं और उसे भवोदधि से पार होने का मार्ग प्रशस्त करते हैं। इस भावाभिव्यक्ति को आचार्य भिक्षु ने बहुत समीचीन प्रस्तुति दी है—

रूंख जिम भव जीवड़ा, बागवान भगवान।
वाणी जलधारा जिम जाणजो, घाले भव जीवा रे कान।।

भगवान, ज्ञान और काल—ये तीनों अमूर्त हैं, किंतु मूर्ति, शास्त्र और घड़ी के द्वारा इनका व्यवहार में प्रयोग किया जाता है। किसी युग में ज्ञान के स्रोत गुरु थे, आज ज्ञान के स्रोत ग्रंथ और शास्त्र बने हैं। निस्संदेह आज ज्ञान के स्रोतों का विस्तार हुआ है। अब तो ज्ञान-प्राप्ति के साधन दृश्य और श्रव्य यंत्र भी बन गए हैं। इन आधुनिक संसाधनों का उपयोग ज्ञानाराधना के लिए हो तो चैतन्य-जागरण की दिशा में अभिनव क्रांति संभव है। ये वैज्ञानिक संसाधन प्रचुर ज्ञानार्जन के माध्यम बन सकते हैं। तेरापंथ शासन में स्वाध्याय की प्रेरक और प्रलंब परंपरा रही है। प्रश्नोत्तर, ज्ञान का पुनरावर्तन, ज्ञान का अनुचिंतन और धर्मोपदेश—ये सभी स्वाध्याय के अभिन्न अंग हैं। पुनरावर्तन से ही कंठस्थ ज्ञान की सुरक्षा संभव है। इतिहास साक्षी है कि आचार्य भिक्षु के मृदुमार्दव शिष्य भारमलजी पूरा उत्तराध्ययन सूत्र खड़े-खड़े चितारते थे। अनेक साधुओं ने स्वाध्याय के क्षेत्र में अविस्मरणीय कीर्तिमान स्थापित किए हैं। साधु-साध्वियों की तरह श्रावक-श्राविकाओं में भी स्वाध्याय के प्रति गहरा अनुराग देखा गया है। अनेक सुधी भाई-बहिन ब्राह्म-वेला में उठकर घंटों तक चौबीसी, आराधना, शील की बाड़ आदि गेय रचनाओं का संगान और थोकड़ों का पुनरावर्तन कर अपने चित्त को भावित करते हैं, यह जीवन-विकास का प्रेरक प्रसंग है। बहिर्मुखता और सांस्कृतिक अवमूल्यन के युग में स्वाध्याय-साधना का अतिरिक्त मूल्य है। इससे ही जीवन में विकृति की रोकथाम संभव है। ❖

कहानी

एथेन्स का सत्यार्थी

सुदर्शन

यह उस बीते हुए युग की कहानी है, जब यूनान ऐश्वर्य और सभ्यता के शिखर पर था और संसार की सर्वोत्तम संतान यूनान में उत्पन्न होती थी।

रात का समय था, काव्य और कला को कभी न भूलने वाली प्राचीन नगरी एथेन्स पर अंधकार छाया हुआ था। चारों तरफ सन्नाटा था, चारों तरफ निस्तब्धता थी—सब बाजार खाली थे, सब गलियां सुनसान थीं और यह सुंदर आबाद नगरी रात के अंधेरे में दूर से इस तरह दिखाई देती थी, जैसे किसी जंगल में धुंधली-सी अपूर्ण छाया का पड़ाव पड़ा हो।

पूरी नगरी पूरा विश्राम कर रही थी। उसके विद्वान और विलासी बेटे अपनी-अपनी शय्या पर बेसुध पड़े थे। रंगशालाएं खाली हो चुकी थीं, विलास-भवनों के दीपक बुझा दिए गए थे और द्वारपालों की आंखों की पलकें नींद के लगातार आक्रमणों के सामने झुक जाती थीं।

परंतु एक नवयुवक की आंखें नींद की शांति और शांति की नींद, दोनों से वंचित थीं।

यह देवकुलीश एक विद्यार्थी था, जिसकी आत्मा सत्यदर्शन की प्यासी थी। वह एक बड़े धनवान का बेटा था, उसकी संपत्ति उसके लिए प्रत्येक प्रकार का विलास खरीद सकती थी। वह अत्यंत मनोहर था। यूनान-माता की सबसे सुंदर बेटियां उसके प्रेम में पागल हो रही थीं। वह बहुत उच्च कोटि का तत्त्ववेत्ता था। उसकी साधारण युक्तियां भी अध्यापकों की पहुंच से बाहर थीं। परंतु उसे इस पर भी शांति न थी। वह सत्यार्थी था। वह सत्य की खोज में अपने आपको मिटा देने पर तुला हुआ था। वह इस रास्ते में अपना सर्वस्व निछावर कर देने को तैयार था। मर्त्य-लोक की नाशवान खुशियां उसके लिए अर्थहीन वस्तुएं थीं। यौवन और सौंदर्य की सजीव मूर्तियों में उसके लिए कोई आकर्षण न था। वह चाहता था, किसी तरह सत्य को बेपरदा, नंगा देख ले। ऐसा नहीं, जैसा वह दिखाई देता है, बल्कि ऐसा, जैसा वास्तव में है। वह अपनी इस मनोरथ-सिद्धि के लिए सब-कुछ करने को तैयार था।

देवकुलीश रात-दिन पढ़ता था।

पढ़ता था और सोचता था, सोचता था और पढ़ता था। मगर उसके स्वाध्याय, चिंतन और मनन से उसके प्यासे हृदय की प्यास मिटती न थी, बढ़ती जाती थी। सत्य का रोगी चिकित्सा से और ज्यादा बीमार होता जाता था।

देवी ने कहा—'देवकुलीश ! देख, इसका प्रकाश कैसा साफ, कैसा तेज है। अब तक तूने इसके जितने परदे उतारे हैं, वे इसके परदे न थे, तेरी बुद्धि के परदे थे। सत्य के ऊपर एक ही परदा है। आगे बढ़ और उसे उतार दे, परंतु अगर तू चाहे तो अब भी लौट चल। मैं तुझे सातों समुद्रों के मोती और दुनिया का सारा सोना देने को तैयार हूं। तेरा गया हुआ स्वास्थ्य वापस मिल सकता है, तेरा उजड़ा हुआ यौवन लौटाया जा सकता है। मुझसे कह, तेरे सिर के सफेद बालों को छूकर फिर से काला कर दूं। देवकुलीश ! अब भी समय है, अपना संकल्प त्याग दे।'

●

विद्यालय के विशाल आंगन में एक ऊंचा चबूतरा था, जिस पर पता नहीं कब से मिनरवा—ज्ञान और विवेक की देवी, संगमरमर के वस्त्र पहने खड़ी थी। देवकुलीश पत्थर की इस मूर्ति के हिम समान पैरों के निकट घंटों बैठा रहता और संसार के रहस्य पर चिंतन किया करता था। यहां तक कि उसके मित्रों और सहपाठियों ने समझ लिया कि इसके मस्तिष्क में विकार उत्पन्न हो गया है। वे उसकी इस शोचनीय दशा को देखते थे और कुढ़ते थे।

उस रात भी देवकुलीश देवी के पैरों के निकट बैठा था और रो रहा था—'कृपा कर ! ऐ विद्या और विज्ञान की सबसे बड़ी देवी ! कृपा कर ! मेरे मन की अभिलाषा पूरी कर। मैं कई वर्षों से तेरी पूजा कर रहा हूं, मैंने कई रातें तेरे पैरों को अपने आंसुओं से धोने में काट दी हैं। मैंने कई दिन केवल तेरे ध्यान में बिता दिए हैं। मेरी प्रार्थना सुन और उसे स्वीकार कर।'

देवकुलीश यह कहकर खड़ा हो गया और देवी के तेज-पूर्ण मुख की तरफ देखने लगा। मगर वह उसी तरह चुपचाप खड़ी थी।

इतने में चंद्रमा आकाश में उदित हुआ। उसके सुवर्ण और सुशीतल प्रकाश में देवी की मूर्ति और भी मनोहर दिखाई देने लगी।

अब देवकुलीश फिर मूर्ति के चरणों में बैठा था और फिर उसी तरह बालकों के समान रो-रोकर प्रार्थना कर रहा था, मानो वह संगमरमर की मूर्ति न थी, इस दुनिया की जीती-जागती स्त्री थी, जो सुनती भी है, बोलती भी है। बुद्धिमान देवकुलीश ने पागलपन के आवेश में कहा—'आज की रात फैसले की रात है। ऐ ज्ञान और विवेक की रानी ! तूने मेरे दिल में जिज्ञासा की आग सुलगाई है, तू ही उसे सत्य के शीतल जल से शांत कर सकती है। सत्य कहां है—अजर, अमर, अटल सत्य ? वह सत्य जिस पर बुद्धिमान लोग शास्त्रार्थ करते हैं, जिसका पंडित चिंतन करते हैं, जिसे लोग एकांत में तलाश करते हैं, मंदिरों में ढूंढ़ते हैं, जिसके लिए दूर-दूर भटकते हैं। मैं वह उच्च कोटि का सत्य देखने का अभिलाषी हूं। नहीं तो मैं चांद की उज्ज्वल चांदनी के सामने तेरे पवित्र पैरों की सौगंध खाकर कहता हूं कि अपने निरर्थक जीवन को यहीं, इसी जगह समाप्त कर दूंगा। मुझे सत्य-हीन जीवन की कोई आवश्यकता नहीं।' यह कहकर देवकुलीश ने अपनी चादर के अंदर से एक कटार निकाली और आत्महत्या करने को तैयार हो गया।

एकाएक सफेद पत्थर की सफेद मूर्ति सजीव हो गई। उसने देवकुलीश के हाथ से कटार छीन ली, उसे आंगन के एक अंधेरे कोने में फेंक दिया और कहा—'देवकुलीश !'

देवकुलीश कांपता हुआ खड़ा हो गया और आशा-निराशा और आनंद की दृष्टि से देवी की ओर देखने लगा। उसने सोचा—क्या यह सच है ?

हाँ, यह सच था। देवी के होंठ सचमुच हिल रहे थे—'देवकुलीश ! देवकुलीश !'

देवकुलीश देवी का एक-एक शब्द पूरे ध्यान से सुन रहा था।

'देवकुलीश ! मौत का मार्ग अंधेरा है। तू मेरा पुजारी है। तू मेरी आंखों के सामने इस मार्ग पर नहीं जा सकता। मेरे लिए यह असह्य है कि मेरे सामने कोई व्यक्ति आत्महत्या कर जाए। मांग ! क्या मांगता है ? मैं तेरी हर एक मनोकामना पूरी करने को तैयार हूं।'

देवकुलीश का दिल सफलता के आनंद से धड़क रहा था। उसके मुंह से शब्द न निकलते थे। वह देवी के पैरों के निकट बैठ गया और श्रद्धाभाव से बोला—'पवित्र देवी ! मैं सत्य को उसके असली स्वरूप में देखना चाहता हूं। नंगा, बेपरदा, खुला सत्य। और कुछ नहीं, केवल सत्य !'

'तू सत्य को जानना चाहता है',—देवी के होंठों से आवाज आई—'तू आप सत्य है। यह आंगन भी सत्य है। मैं भी सत्य हूं। आंखें खोल ! सत्य संसार के चप्पे-चप्पे पर खड़ा है।'

देवकुलीश—'मगर उस पर परदे पड़े हुए हैं।'

देवी—'विवेक की आंख उन परदों के अंदर का दृश्य भी देख सकती है।'

देवकुलीश—'पवित्र माता ! मैं सत्य को विवेक से नहीं, आंखों से देखना चाहता हूं। मैं सोचकर नहीं देखना चाहता, देखकर सोचना चाहता हूं।'

देवी ने अपना पत्थर का सफेद, ठंडा और भारी हाथ देवकुलीश के कंधे पर रख दिया और मीठे स्वर में बोली—'बेपरदा, नंगा, असली सत्य आज तक दुनिया के किसी बेटे ने नहीं देखा, न देवताओं ने किसी बेटे को यह वरदान दिया है। तू अन्न का कीड़ा है, तेरी आंखों में यह दृश्य देखने की शक्ति कहां ? मेरा परामर्श है, यह वहम छोड़ दे और अपने लिए कोई वस्तु मांग। मैं अभी, इसी जगह दूंगी।'

देवकुलीश—'यूनान की सबसे बड़ी देवी ! मैं केवल नंगा सत्य देखना चाहता हूं और कुछ नहीं चाहता।'

देवी—'मगर इसका मूल्य...'

देवकुलीश—'जो कुछ मांगें मैं देने को तैयार हूं।'

देवी—'धन-दौलत, सौंदर्य, यश सब तुझसे छूट जाएंगे। तुझे अपनी दुनिया को चांद और सूरज के प्रकाश से भी खाली करना होगा—शायद इस यत्न में तुझे अपने जीवन की भी आहुति देनी पड़े। बोल ! क्या अब भी तू सत्य का नंगा रूप देखना चाहता है ?'

देवकुलीश—'मुझे सब कुछ स्वीकार है।'

देवी ने सिर झुका लिया।

देवकुलीश—'परमेश्वर की दृष्टि में ऐसी कोई वस्तु नहीं, जो मैं इसके लिए न त्याग सकूं।'

देवी ने सिर उठाया और मुस्कराकर कहा—'बहुत अच्छा ! तू सत्य को देख लेगा, तुझे सत्य दिखा दिया जाएगा, सत्य का असली नंगा रूप तेरे सामने होगा। परंतु एक बार नहीं, धीरे-धीरे। चल ! आज सत्य का एक परदा उठा, बाकी एक वर्ष के बाद !'

●

यह कहते-कहते देवी ने अपनी सफेद पत्थर की चादर उतारकर चबूतरे पर रख दी और देवकुलीश को गोद में उठा लिया। देखते-देखते देवी के दोनों कंधों पर परियों के-से दो पर निकल आए। देवी ने पर खोले और हवा में उड़ने लगी। पहले शहर, मंदिरों के कलश, पर्वत, फिर चांद, तारे, बादल सब नीचे रह गए। देवी देवकुलीश को लिए आकाश में उड़ी जा रही थी। थोड़ी देर बाद उसने देवकुलीश को बादलों के एक पहाड़ पर खड़ा कर दिया। देवकुलीश ने देखा, पृथ्वी उसके पांव तले बहुत दूर, बहुत नीचे एक छोटे-से तारे के समान टिमटिमा रही है और यह है वह दुनिया, जिसको वह इतना बड़ा समझ रहा था। मगर देवकुलीश का ध्यान इस ओर न था। उसने अपने पास छाया में छिपी हुई एक धुंधली-सी चीज देखी और देवी से पूछा—'यह क्या है ?'

देवी—'यह सत्य है। यह छिपकर यहां रहता है। यहीं से तेरी और अनगिनत दूसरी दुनियाओं को अपनी दिव्य-ज्योति भेजता है। इसी के धुंधले प्रकाश में बैठकर बुद्धिमान लोग संसार की पहेलियां हल किया करते हैं और गुरु अपने शिष्यों को जीवन की शिक्षा देते हैं। यही प्रकाश सृष्टि का सूरज है, यही ज्योति मानव-चरित्र का आदर्श है। तू कहेगा—यह तो कुछ ज्यादा प्रकाशमान नहीं। परंतु देवकुलीश ! तेरे शहर के निकट जो नदी बहती है, यदि उसकी सारी रेत का एक-एक कण एक-एक सूरज बन जाए, तब भी उसमें इतना प्रकाश न होगा, जितना इस पहाड़ की छाया में है। मगर वह परदों में छिपा हुआ है। चल, आगे बढ़ और इसका एक परदा उतार दे।'

देवकुलीश ने एक परदा उतार दिया। इसके साथ ही उसे ऐसा मालूम हुआ जैसे संसार में एक नवीन प्रकार का प्रकाश फैल गया है। सच की छाया अब पहले से अधिक स्पष्ट और प्रकाशमान थी। देवी देवकुलीश को फिर एथेन्स में उड़ा लाई और अपनी संगमरमर की चादर ओढ़कर उसी चबूतरे पर उसी तरह चुपचाप खड़ी हो गई।

अब देवकुलीश की दृष्टि में चांदी और सोने का कोई मूल्य न था। वह लोगों को धन के पीछे भागते देखता, तो उसे आश्चर्य होता था। वह चांदी को सफेद लोहा और सोने को पीला लोहा कहता था और इनकी प्राप्ति के लिए अपना परिश्रम नष्ट न करता था। उसे पढ़ने की धुन थी, दिन-रात पढ़ता रहता था। उसके बाप ने उसका साधु-स्वभाव देख कह दिया कि इसे मेरी जायदाद में से कुछ न मिलेगा, परंतु देवकुलीश को इसकी जरा चिंता न थी। उसके मित्र-संबंधी कहते—'देवकुलीश ! यह आयु जवानी और जीत की है। सफेद बालों और झुकी हुई कमर का युग आरंभ होने से पहले-पहले कुछ जमा कर ले; नहीं, फिर बाद में पछताएगा।'

देवकुलीश उनकी तरफ अद्भुत दृष्टि से देखता और कहता—'तुम क्या कह रहे हो ? मैं कुछ नहीं समझता।'

एथेन्स के एक बहुत अमीर की कुंवारी बेटी अब भी देवकुलीश से प्रेम करती थी। जब वह देवकुलीश की इस दीन दशा को देखती थी, तो अपने दिल में कुढ़ती थी। देवकुलीश के खाने-पीने का प्रबंध भी वही करती थी। अन्यथा वह भूखा-प्यासा मर जाता।

इसी तरह एक वर्ष के तीन सौ पैंसठ दिन समाप्त हो गए। रात का समय था, एथेन्स पर फिर अंधकारपूर्ण सन्नाटा छाया हुआ था। देवकुलीश ने फिर देवी के पैरों पर सिर झुकाया। देवी उसे फिर बादलों के पहाड़ पर ले गई। और देवकुलीश ने सत्य का दूसरा परदा फाड़ दिया। इस बार सत्य का प्रकाश और भी साफ हो गया। देवकुलीश ने उसे देखा और उसकी आंखों को वह ज्ञान-चक्षु मिल गए, जो यौवन और सुकुमारता के लाल लहू के पीछे छिपे हुए बुढ़ापे की एक-एक झुर्री को देख सकते हैं। फिर वह अपनी अज्ञान और अविद्या की दुनिया को वापस चला गया। देवी फिर संगमरमर का बुत बनकर अपने स्थान पर खड़ी हो गई।

●

एक दिन उसके एक मित्र ने कहा—'देवकुलीश ! आज यूनान की सारी कुंवारी लड़कियां एथेन्स में जमा हैं और यूनान की सबसे सुंदर युवती को सौंदर्य का पहला इनाम दिया जाएगा। क्या तू भी चलेगा ?'

देवकुलीश ने मुस्कराकर कहा—'सत्य वहां नहीं है।'

दूसरे दिन एक अध्यापक ने कहा—'आज यूनान के सारे समझदार लोग विद्यालय में जमा हैं। क्या तुम उनसे मिलोगे ?'

देवकुलीश ने ठंडी आह भरकर जवाब दिया—'सत्य वहां भी नहीं है।'

तीसरे दिन एक महंत ने कहा—'आज चांद देवी के बड़े मंदिर में देवताओं की पूजा होगी। क्या तुम भी वहां आओगे ?'

देवकुलीश ने लंबी आह खींची और कहा—'सत्य वहां भी नहीं है।'

और इस तरह सत्यार्थी ने जवानी ही में जवानी के सारे प्रलोभनों पर विजय प्राप्त कर ली। अब वह पूरा संत था, मगर वह एथेन्स के किसी मेले में नजर न आता था, उसकी आवाज किसी सभा में सुनाई न देती थी।

देवकुलीश साल-भर एकांत में पढ़ता रहता और इसके बाद बादलों के पहाड़ पर जाकर सत्य का एक परदा फाड़ आता था। इसी तरह कई वर्ष बीत गए। उसका ज्ञान दिन-पर-दिन बढ़ता गया; मगर उसकी आंखें अंदर धंस गईं थीं, कमर झुक चुकी थी; सिर के सारे बाल सफेद हो गए थे। उसने सत्य की खोज में अपनी जवानी बुढ़ापे को भेंट कर दी थी। मगर उसे इसका दुख न था; क्योंकि वह जवानी और बुढ़ापे की सत्ता से परिचित हो चुका था।

और लोग यह समझते थे—देवकुलीश ने अपने लिए अपनी कुटिया को अपनी समाधि बना लिया है।

●

आखिर वह प्यारी रात आ गई, जिसकी प्रतीक्षा में देवकुलीश को अपने जीवन का एक-एक क्षण, एक-एक वर्ष एक-एक शताब्दी से भी लंबा मालूम होता था।

आज सत्य के मुंह से अंतिम परदा उठेगा। आज वह सत्य को नंगा, बेपरदा देखेगा, जिसे संसार के किसी नश्वर पुत्र ने आज तक नहीं देखा। आज उसकी सबसे बड़ी साध पूरी हो जाएगी।

आधी रात को उसे विवेक और विज्ञान की देवी ने अंतिम बार गोद में उठाया और बादलों के पहाड़ पर ले जाकर खड़ा कर दिया।

देवकुलीश ने सत्य की ओर अधीर होकर देखा।

देवी ने कहा—'देवकुलीश ! देख, इसका प्रकाश कैसा साफ, कैसा तेज है। अब तक तूने इसके जितने परदे उतारे हैं, वे इसके परदे न थे, तेरी बुद्धि के परदे थे। सत्य के ऊपर एक ही परदा है। आगे बढ़ और उसे उतार दे, परंतु अगर तू चाहे तो अब भी लौट चल। मैं तुझे सातों समुद्रों के मोती और दुनिया का सारा सोना देने को तैयार हूं। तेरा गया हुआ स्वास्थ्य वापस मिल सकता है, तेरा उजड़ा हुआ यौवन लौटाया जा सकता है। मुझसे कह, तेरे सिर के सफेद बालों को छूकर फिर से काला कर दूं। देवकुलीश ! अब भी समय है, अपना संकल्प त्याग दे।'

मगर शूर सत्यार्थी ने देवी का कहना न माना और आगे बढ़ा। उसका कलेजा धड़क रहा था, उसके पांव लड़खड़ा रहे थे, उसके हाथ कांप रहे थे, उसका सिर चकरा रहा था, मगर वह फिर भी आगे बढ़ा। उसने अपनी आत्मा और शरीर की समस्त शक्तियां हाथों में जमा कीं और उन्हें फैलाकर सत्य का अंतिम परदा फाड़ दिया।

ओ परमात्मा !

ओ परमात्मा ! !

चारों ओर अंधकार छा गया था—ऐसा भयानक अंधकार जैसा इससे पूर्व देवकुलीश की आंखों ने कभी न देखा था। उसने चिल्लाकर कहा—'देवी माता ! यह क्या हो गया ? मुझे दिखाई नहीं देता। वह जो परदे के पीछे था, कहां चला गया ?'

देवी ने मधुर स्वर में कहा—'देवकुलीश ! देवकुलीश ! !'

देवकुलीश ने अंधेरे में टटोलते हुए कहा—'देवी ! मुझे बता—वह कहां है ? मैं कहां हूं ? तू कहां है ?'

देवी ने अपना हाथ धीरे से उसके कंधे पर रखा और बोली—'देवकुलीश ! तेरी आंखें नंगे सत्य का दृश्य देखने में असमर्थ होने के कारण फूट गईं। अब संसार की कोई शक्ति ऐसी नहीं, जो उन्हें ठीक कर सके। मैंने तुझसे कहा था, यह विचार छोड़ दे, परंतु तूने न माना और अब तूने देख लिया कि जब मनुष्य सत्य को नंगा देखना चाहता है, तो क्या देखता है ? सत्य परदों के अंदर ही से देखा जा सकता है। जब उसका परदा उतार दिया जाता है, तो मनुष्य वह देखता है जो कभी नहीं देख सकता।'

देवकुलीश बादलों के पहाड़ पर मुंह के बल गिर पड़ा और फूट-फूटकर रोने लगा।

हजारों वर्ष बीत चुके हैं, पर एथेन्स के सत्यार्थी की खोज अभी तक जारी है। अगर कोई आदमी बादलों के पहाड़ की घाटियों में जा सके तो उसे देवकुलीश के रोने की आवाज आज भी उसी तरह सुनाई देगी। ❖

अञ्जू ढड्ढा मिश्र की कविताएं

•
थिरकती हैं पत्तियां

जीवन देती हो चाहे
वही एक बूंद
जो रोम रंध्र से होकर
पहुंचती है अंतर में

लेकिन जो जीवन को
करते हैं जीवन
वे अनेक तरंग बिंदु हैं
पत्तियों पर बरसते हुए

जिनकी छुअन से
थिरकती हैं पत्तियां

•
देखने की शुरुआत

तस्वीर में
बंद हैं तुम्हारी आंखें
बरसों बाद भी आज
देख कर तस्वीर में तुम्हारी बंद आंखें
आंखें बंद करके
दिख जाता है मुझे वह
जो देख रही थी बंद आंखें
तुम्हारी, तस्वीर में।

फिर कैसे माना जा सकता है
कि बंद होने से आंखें
संभव नहीं है देख पाना।

हर बार तुम्हारी बंद आंखों से
हो सकती है शुरुआत
एक नई दृष्टि से देखने की
कई अप्रश्नीय सत्यों को।

•
न संभव हो चाहे

उड़ना
न संभव हो चाहे
दिखता रहे आसमान

सुबह
सपने से जगा
सद्यः स्नात
संध्या को उमड़ता
रंगों तरंगों में

पंख
बने रह सकते हैं मन में
यदि आंखों में बना रहे
आसमान।

•
जल से बंधी रेत

पग तलियों को नर्म बिछौना दे
दूब की कोंपल को
दुलराती है रेत

तभी तक
जब तक वह
बंधी है
जल से

•
बेघर रेत

उड़ती रेत के नीचे से
उघड़ते जाते हैं
सूखे झड़े पत्ते
बेघर तिनके
नए अंकुराते पौधे

रेत की बेचैनी
दफन कर लेती है
अपने से अधिक
बेचैन
स्मृतियों के अवशेष।

•
रेत की स्मृति

स्मृति
रेत में भी है
लेकिन
हवा के थपेड़ों से खंडित-

नहीं तो क्यों यह बेचैनी
ढांप लेने की
दूसरों के स्मृति-चिह्न। ❖

शीलन

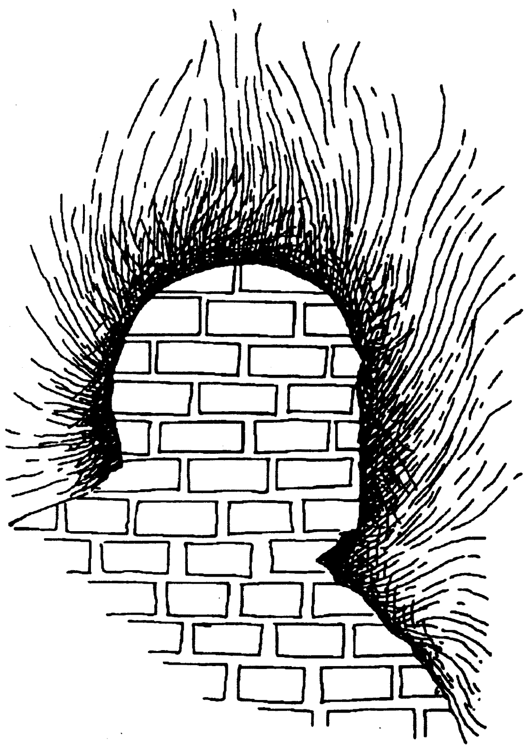

यह सच है कि आजकल समाज में नैतिक मूल्यों का बहुत प्रभाव है। परंतु यह सोचना बहुत भोलापन होगा कि स्कूलों में नैतिक शिक्षा आरंभ करने से स्थिति बदल जाएगी। इसकी संभावना तो बहुत कम है कि स्कूल प्रणाली द्वारा नैतिक मूल्यों को सिखाने से समाज में सुधार हो जाएगा। अधिक संभावना यह है कि समाज में नैतिक मूल्यों के पतन का प्रभाव स्कूल प्रणाली पर पड़ेगा और वह उसे दूषित करेगा। समाज और स्कूल प्रणाली दोनों में, वास्तव में वयस्क ही अपने आचरण से नैतिक मार्गदर्शन करते हैं और युवा उनका अनुकरण करते हैं। यह आशा करना व्यर्थ है कि वयस्क तो अपने आचरण में मनमानी करें और बच्चों को धर्म या नीतिशास्त्र पर प्रवचन देकर सुधार दिया जाए। बच्चों और युवाओं को नैतिकता सिखाने का एकमात्र मार्ग यही है कि सब वयस्क अपने जीवन में और समाज में नैतिक मूल्यों का पालन करें। अतः हमें समाज में नैतिक मूल्यों के संकट को दूर करने के लिए सीधे समाज में ही सुधार करना होगा। इसके लिए उचित राजनीतिक नेतृत्व, वयस्क आचरण में सुधार और सामाजिक नियंत्रण की आवश्यकता होगी। इसके कुछ परिणाम तो तात्कालिक होंगे और कुछ मात्रा में एक ऐसा आवश्यक वातावरण तैयार होगा जिसमें स्कूल प्रणाली द्वारा नैतिक शिक्षा प्रदान करना संभव हो सकेगा।

—जे.पी. नाईक

संयम की बात बजरिए भूकंप

समणी अमितप्रज्ञा

भूमि में कंपन हुआ और युगों तक न मिटने वाला प्रकंपन समूची मानव जाति को दे गया। 26 जनवरी, गणतंत्र दिवस की शुभ वेला अचानक करोड़ों आंखों में आंसू भर गई। गुजरात में आए भूकंप की मार जहां बीजिंग तक थी, वहीं उसी दिन मध्य अमरीका और यूरोप में भी भूकंप आए। एक रिपोर्ट के अनुसार 'उस रोज के बाद कहीं न कहीं भूकंप आते ही जा रहे हैं। कभी कोलकाता में, कभी तमिलनाडू में तो कभी सर्वाधिक सुरक्षित कर्नाटक में। गुजरात में 26 जनवरी से लगातार भूकंप के सैकड़ों छोटे-बड़े झटके आ रहे हैं। इतने व्यापक क्षेत्र में भूकंप आना सामान्य प्रक्रिया नहीं लगती। किसी एक क्षेत्र तक सीमित भूकंप की घटनाएं तो होती हैं। उनकी तीव्रता भी कम-ज्यादा होती है, किंतु वर्तमान में तो ऐसा लग रहा है मानो समूची धरती के भीतर ही खलबली मची हुई है। ऐसा लग रहा है मानो धरती मां मनमानी से तंग आ चुकी है।

गुजरात में आए भूकंप ने प्रकारांतर से सारी मानव जाति को सोचने के लिए विवश किया है—प्रकृति का भविष्य क्या होगा? मानवता का भविष्य क्या होगा? भविष्य का भविष्य क्या होगा?

धरती सभी का पोषण कर सके, इतना सामर्थ्य उसके पास है, पर इच्छा-तृष्णा एक की भी पूरी कर सके—ऐसी सामर्थ्य उसमें नहीं है। प्रकृति के पास विपुल संपदा है। सूर्य का प्रकाश, शुद्ध हवा, स्वच्छ पानी, खनिज पदार्थ, संतुलित भोज्य सामग्री आदि। अपनी संपदा को उदारमना होकर प्रकृति प्राणीमात्र के लिए प्रदान करती है। प्रकृति-प्रदत्त सहज संपदा का समुचित उपयोग कर हजारों वर्षों तक मनुष्य दीर्घजीवी और प्रसन्न रह सकता है।

अध्यात्म का स्वर है, 'बंधन और मोक्ष तुम्हारे अपने भीतर हैं।' मोक्ष का माध्यम है—संयम, मर्यादा, सीमा, अल्पीकरण। जितना-जितना व्यक्ति पदार्थ-चेतना से मुक्त हो सकेगा उतना ही वह स्वतंत्रता की दिशा में आगे बढ़ सकेगा। जितना-जितना पदार्थ-चेतना के अधीन रहेगा, उतना-उतना ही वह बंधन-ग्रस्त होता चला जाएगा। इसीलिए अणुव्रत ने, 'संयम ही जीवन है।' का स्वर मुखर किया।

उपभोक्तावादी संस्कृति ने मानवीय चेतना में गहरे तक अपनी जड़ें जमा ली हैं। कहा जाता है—'इच्छा बढ़ाओ, उत्पादन भी बढ़ेगा।' इच्छा बढ़ाने के सिद्धांत ने प्रकृति के नैसर्गिक सौंदर्य, उसके अस्तित्व के साथ भयंकर खिलवाड़ किया है। प्रदूषण इसी भोगवादी संस्कृति की देन है। पानी, जिसे जीवन कहा जाता रहा है, आज वह सैकड़ों फुट नीचे जा रहा है और विषाक्त होकर जीवन-हरण का कारण बन रहा है। प्राणवायु, जो कि जीवन के लिए अनिवार्य है, विषैली हो रही है। प्रतिवर्ष लाखों टन मिट्टी समुद्र में बहकर चली जाती है। परिणामतः उपजाऊ मिट्टी का अभाव होता जा रहा है। संपदा की जननी धरती माता को कमजोर कर दिया गया है। रासायनिक खाद डालकर इस धरती से जितना लिया जा सकता है, जितना अधिक से अधिक दोहन किया जा सकता है—वही करने को तुला है धरती का सर्वश्रेष्ठ कहा जाने वाला प्राणी—मानव।

गुजरात में आए भूकंप ने प्रकारांतर से सारी मानव जाति को सोचने के लिए विवश किया है—प्रकृति का भविष्य क्या होगा? मानवता का भविष्य क्या होगा? भविष्य का भविष्य क्या होगा?

धरती सभी का पोषण कर सके, इतना सामर्थ्य उसके पास है, पर इच्छा-तृष्णा एक की भी पूरी कर सके—ऐसा सामर्थ्य उसमें नहीं है। प्रकृति के पास विपुल संपदा है। सूर्य का प्रकाश, शुद्ध हवा, स्वच्छ पानी, खनिज पदार्थ, संतुलित भोज्य

सामग्री आदि। अपनी संपदा को उदारमना होकर प्रकृति प्राणीमात्र के लिए प्रदान करती है। प्रकृति-प्रदत्त सहज संपदा का समुचित उपयोग कर हजारों वर्षों तक मनुष्य दीर्घजीवी और प्रसन्न रह सकता है। पर मनुष्य की आसक्त मनोवृत्ति से, भौगोपभोग की सीमा के उल्लंघन से, प्रकृति के अतिरिक्त दोहन से प्राकृतिक स्रोत रीते होते जा रहे हैं। परिणामतः इनसे उत्पन्न होने वाली समस्याएं नित नए रूपों में सामने आ रही हैं।

धरती व आसमान के बीच रहने वाला मनुष्य सारी धरती और आसमान पर अपना आधिपत्य चाहता है। समाज और राष्ट्र के संदर्भ में भी इसकी यथार्थता देखी जा सकती है। हमारा देश विकसित देशों की गणना में आए, हमारा अर्थतंत्र मजबूत बने, समृद्ध बने, अत्याधुनिक भोगोपभोग की नई सामग्री अस्तित्व में आए, इसलिए वह आंख मूंदकर कारखानों का निर्माण कर रहा है। प्राचीन भारतीय परंपरा ने प्रकृति में देवत्व की कल्पना की है। पेड़-पौधे यहां पूजा के आस्था रूप रहे हैं। वनों की अंधाधुंध कटाई आज उस परंपरा को इतिहास का विषय बनाती जा रही है। वनों की कटाई से कार्बन-डाई-ऑक्साइड की मात्रा बढ़ने से वायु प्रदूषण, अंतरिक्ष प्रदूषण बढ़ रहा है। ओजोन की परत में छेद हो रहा है। अनुमान यह किया जा रहा है कि वायु प्रदूषण से कुछ ही दशकों में तापमान 30 सेंटीग्रेड बढ़ जाएगा और गर्मी बढ़ते ही अंटार्कटिका का हिमनद और उसके कुछ भाग पिघलने लगेंगे। इससे आने वाले साठ वर्षों में समुद्र का जलस्तर एक मीटर बढ़ जाएगा। परिणामतः विश्व के अनेक भू-भागों को जल-मग्न होने से बचाया नहीं जा सकेगा।

पानी के असंयम के कारण पानी के स्रोत खत्म हो रहे हैं। वर्तमान हालातों को देखते हुए संभावना की जा सकती है कि आने वाले समय में खाद्य पदार्थों की जगह पानी की लड़ाई प्रमुख हो जाएगी। जल प्रदूषण भी बढ़ रहा है। आंकड़े बताते हैं—आने वाले दस वर्षों में विकासशील देशों में 60 से 80% बीमारियां सिर्फ प्रदूषित जल के कारण उत्पन्न होंगी। ऐसी स्थिति में आशंका स्वाभाविक है कि सर्वनाश के कई रास्ते खुलने वाले हैं।

नाभिकीय विस्फोट के कारण पर्यावरण संतुलन चरमरा रहा है। वैज्ञानिकों का कहना है कि यदि नाभिकीय युद्ध होगा तो विश्व स्थिति परिवर्तित हो जाएगी। धरती-आकाश धूल से भर जाएंगे। कहीं तापमान तीव्रतम होगा तो कहीं अत्यधिक न्यून होगा। जीव-जगत समाप्तप्राय हो जाएगा। कहीं भयंकर गर्मी होगी तो कहीं भयंकर सर्दी होगी। सारे हिमखंड पिघल-डूब जाएंगे। चारों ओर पानी ही पानी से मचा हुआ प्रलय नजर आएगा। प्रकृति के अतिरिक्त दोहन व विनाश से त्रस्त इस संपदा से हमें मात्र खतरा ही नहीं है, अपितु यह हमारी संस्कृति तथा सभ्यता को जिंदा न रख पाने की पीड़ा में बदल सकती है। हिरोशिमा, नागासाकी पर बम गिराए गए थे—यह स्थिति उस क्षण से भी ज्यादा खतरनाक नतीजे दे सकती है। ऐसी स्थिति हमें सोचने को विवश करती है कि क्या हम वास्तव में जीना चाहते हैं या समय से बहुत पहले ही काल के गर्त में समा जाना चाहते हैं?

भूकंप से उत्पन्न तबाही व प्रलय के दृश्य जनजीवन को प्रकृति के प्रति जागरूक करने के लिए पर्याप्त हैं। आज जिस दुखद यथार्थ को गुजरात ने भोगा है, समूची मानव जाति ने देखा-सुना है। विज्ञान भी इसी संदर्भ में भविष्यवाणी कर रहा है। इसी दिशा में हजारों वर्ष पहले भगवतीकार भगवान महावीर ने कुछ कहा था। जैन दर्शन के अनुसार वर्तमान में अवसर्पिणी काल का 'दुःषमा' नामक पांचवां आरा चल रहा है। जब पांचवां आरा पूरा होने वाला होगा और छट्ठा आरा—'दुःषमा-दुःषमा' प्रारंभ होने वाला होगा, उस समय विश्व की विचित्र स्थिति का प्रत्यक्ष ज्ञान के आधार पर आकलन करते हुए भगवती में कहा गया—सर्वप्रथम समवर्तक वायु चलेगी। वह इतनी प्रलयंकारी होगी कि पहाड़ भी प्रकंपित हो जाएंगे, गांव नष्ट हो जाएंगे। तीव्र आंधियां चलेंगी जिससे आकाश और धरती धूल से भर जाएंगे। चंद्रमा इतना ठंडा हो जाएगा कि रात को कोई व्यक्ति बाहर नहीं निकल पाएगा। सूर्य इतना गर्म होगा कि प्राणी झुलस जाएंगे। भयंकर ठंड, भयंकर गर्मी होगी। बारिश भी पानी की नहीं—अग्नि की होगी, अंगारे बरसेंगे। मेघ बरसेंगे वो रोग बढ़ाने वाले होंगे। उसका परिणाम यह होगा कि मनुष्य, पशु-पक्षी, वनस्पति, कीड़े-मकोड़े नष्ट हो जाएंगे। पहाड़ों में केवल वैताढ्य पर्वत (हिमालय) बचेगा। जो कुछ लोग बचेंगे वे हिमालय की गुफाओं में रह जाएंगे। केवल गंगा और सिंधु का थोड़ा-सा तट अवशेष बचेगा। बचे हुए लोग मछलियां आदि खाकर जैसे-तैसे जीवनयापन करेंगे। जैसे चूहे बिलों में पड़े रहते हैं, वैसे मनुष्य पहाड़ की गुफाओं में दुबके रहेंगे। भूमि अंगारों के समान तप्त हो जाएगी। अंगारों पर चलना और भूमि पर चलना एक समान लगेगा।

अणुयुद्ध से विश्व की होने वाली स्थिति का जो वर्णन वैज्ञानिक करते हैं, भगवान महावीर ने ढाई हजार वर्ष पहले ही उसका विस्तृत चित्र प्रस्तुत कर दिया। उन्होंने जो कुछ जाना व कहा उसका आधार प्रत्यक्ष ज्ञान था। अतः उसकी प्रामाणिकता के सामने कोई प्रश्न नहीं। वर्तमान में हिंसा, असंयम आदि का खुला खेल चारों ओर चल रहा है। इसे

देखते हुए सोचा जा सकता है कि दिन-दिन वह प्रलय हमारे करीब से करीब होता जा रहा है।

व्यक्ति आसक्ति की दौड़ में दौड़ता जा रहा है। उसके दृष्टिकोण का ही एक तरह से व्यवसायीकरण हो चुका है। स्वार्थ के सिवाय कोई लक्ष्य कहीं नजर नहीं आ रहा। असंयम का व्यवहार स्वभाव का स्थान ले रहा है। पर्यावरण की समस्या पर विचार करने वाले असंयम की दिशा में अग्रणी हैं। फलतः जिन प्राकृतिक संसाधनों से हज़ारों वर्षों तक लाभ उठाया जा सकता था, मनुष्य के अनावश्यक भोग व असंयम के कारण कुछ ही समय में उसका अस्तित्व लुप्तप्राय हो जाएगा। आने वाली पीढ़ी अपने पूर्वजों को कोसेगी कि—उन्होंने भावी पीढ़ी के लिए कुछ नहीं छोड़, दरिद्र बना दिया। पर्यावरणविदों की स्पष्ट चेतावनी है—पदार्थ की अपनी सीमा है इसलिए उपभोग का संयम करो। अध्यात्म का महत्त्वपूर्ण सूत्र है—'संयम ही जीवन है।' भगवान महावीर ने महत्त्वपूर्ण सूत्र दिया—भोग-उपभोग का संयम। महावीर के काल में आनंद जैसे कई श्रावकों का नाम आता है जो अपार संपदा के मालिक थे, लेकिन व्यक्तिगत जीवन में उनके जैसा संयम भी विरल था। आज के सुविधावादी लोगों के लिए श्रावक आनंद का जीवन एक आदर्श प्रस्तुत करता है। महावीर का 'संयम का सूत्र' पर्यावरण की समस्या का समाधान प्रस्तुत करता है।

विश्व स्वास्थ्य संगठन कई बार घोषणा करता है—वनों की कटाई कम हो, पदार्थ का, पानी का व्यय कम हो, पर घोर असंयम के प्रति बढ़ते आकर्षण में इनकी घोषणा की ओर ध्यान नहीं दिया जा रहा। व्यक्ति की मूर्च्छा इतनी सघन है कि जानते हुए भी उसके परिणाम को नजर-अंदाज किया जा रहा है। शायद ऐसी स्थिति को देखकर ही वैज्ञानिकों ने उद्घोषणा की है कि इक्कीसवीं शताब्दी का मध्य दुनिया के लिए भयंकर होगा। गुजरात में घटी घटना तो इक्कीसवीं सदी का प्रारंभ है। यदि मानव जाति ने अब भी अपनी दिशा न मोड़ी तो माना जा सकता है—भविष्य का भविष्य क्या होगा?

जैन दर्शन के अनुसार पांचवें आरे की कालावधि इक्कीस हजार वर्ष है। जैन कर्म सिद्धांत में एक महत्त्वपूर्ण तत्त्व—उदीरणा की चर्चा आती है। उदीरणा का तात्पर्य—परिणाम विशेष से है, बाद में उदय आने वाले कर्म पहले ही भोग लेने पड़ेंगे। समय सीमा से पूर्व ही उन कर्मों को विपाक में ला देगा। आचार्यश्री महाप्रज्ञजी का भी कहना है कि भगवती की भविष्यवाणी के संदर्भ में कहीं काल की उदीरणा न हो जाए। इक्कीस हजार वर्ष बाद आने वाली स्थिति इक्कीसवीं शताब्दी में ही न आ जाए। संभव है काल की उदीरणा हो जाए। काल कर्म की उदीरणा में निमित्त बनता है तो हो सकता है कर्म भी काल की उदीरणा में निमित्त बन जाए।

इस समस्या के समाधान का सूत्र 'संयमः खलु जीवनम्', संयम ही जीवन है—हो सकता है। यह सूत्र भोगवादी जीवन शैली को नियंत्रित करने के लिए महत्त्वपूर्ण उपाय है। प्रमाद बहुत हो चुका व उसके विकट परिणाम भी मनुष्य बहुत भोग चुका। अब तो अपेक्षा है महावीर का एक सूक्त रग-रग से ध्वनित हो जाए—'इयाणिं नो जमहं पुव्वमकासी पमाएणं।' प्रमादवश अब तक जो हो गया, वह तो हो गया, लेकिन अब नहीं। अब वह प्रवृत्ति कभी न हो सकेगी, जो प्रमादवश पहले करली। हिंसा व असंयम की यात्रा बहुत हो चुकी। अब एक ही समाधान का प्रशस्त पथ है और वह है संयम। संयम की यात्रा के साथ ही जीवन-यात्रा को सुखद बनाया जा सकता है। इसके सिवा सुख का कोई विकल्प नहीं। दृढ़ संकल्प शक्ति के साथ जब 'संयम ही जीवन है' का घोष मुखर होगा तभी भविष्य को उजला बनाया जा सकेगा। तब ही भावी पीढ़ी के लिए एक गौरवमय अध्याय रचा जा सकेगा। ❖

व्यक्ति तथा समाज का संबंध सापेक्ष कहा जा सकता है, क्योंकि एक के अभाव में दूसरे की परिस्थिति संभव नहीं। व्यक्ति के स्वत्वों की रक्षा के लिए समाज बना है और समाज के अस्तित्व के लिए व्यक्ति की आवश्यकता रहती है। एक सामाजिक प्राणी स्वतंत्र और परतंत्र दोनों ही है। जहां तक वैयक्तिक हितों की रक्षा के लिए निर्मित नियमों का संबंध है, व्यक्ति परतंत्र ही कहा जाएगा; क्योंकि वह ऐसा कोई कार्य करने के लिए स्वच्छंद नहीं जिससे अन्य सदस्यों को हानि पहुंचे। परंतु अपने और समाज के व्यक्तिगत तथा सार्वजनिक विकास के क्षेत्र में व्यक्ति पूर्णतः स्वतंत्र रहता है।

—महादेवी वर्मा

आहार : स्वाद नहीं साधना

समणी भावितप्रज्ञा

स्वास्थ्य का आधार हवा, पानी और आहार है। व्यक्ति बहुविध क्रियाएं करता है। इन क्रियाओं से शारीरिक, मानसिक और भावनात्मक शक्ति का क्षय होता है। खर्च की हुई शक्ति को पुनः प्राप्त करने का आधार आहार है। आहार से मांसपेशियों, स्नायुओं, कोशिकाओं का पोषण, संवर्धन, रक्षण और मरम्मत होती है। सामान्यतः व्यक्ति शरीर-विकास, शरीर-गठन, शरीर-रक्षण और शरीर-शोधन की दृष्टि से आहार करता है। हम जो खाते हैं, उसी से शरीर निर्मित होता है। जीवन और आहार का गहरा संबंध है। जन्म लेने से पूर्व जीव आहार लेना शुरू कर देता है। प्राणी गर्भधारण के पहले क्षण में ओज आहार लेता है। रोम आहार सतत चलता रहता है। कवल आहार दिन में अनेक बार लेते हैं। आहार से ही आचार, विचार और व्यवहार की त्रिपुटी संचालित और प्रभावित होती है।

व्यक्ति भोजन करता है। उससे शरीर में अनेक रसायन बनते हैं। भोजन से मस्तिष्क में न्यूरोट्रांसमीटर बनते हैं जो तंत्र के संप्रेषक हैं। न्यूरोट्रांसमीटर के द्वारा मस्तिष्क शरीर का संचालन करता है। वैज्ञानिकों ने चालीस प्रकार के न्यूरोट्रांसमीटर की खोज की। ये सारे भोजन से बनते हैं। भोजन से रसायन के साथ-साथ शरीर में अनेक विषैले तत्त्व—एमिनोएसिड, यूरिकएसिड आदि बनते हैं। विषैले भोजन से मानसिक समस्याएं भी पैदा होती हैं। अतः कैसा आहार करें, यह जानना अत्यंत अपेक्षित है।

आहार के मुख्य दो कार्य हैं—

1. शरीर में गर्मी उत्पन्न करना और गर्मी को बनाए रखना।

2. शरीर को घिसने से रोकना।

गर्मी, पाचनशक्ति अच्छी बनाए रखने के लिए समतोल, पोषणयुक्त आहार की अपेक्षा है। चिकित्साविदों की दृष्टि में संतुलित आहार वह है जिसमें प्रोटीन, कार्बोहाइड्रेट, खनिज-लवण, लौह, विटामिन्स, शर्करा, रासायनिक द्रव्य आदि का समावेश होता है। रूखे-सूखे भोजन के साथ मधुर और स्निग्ध आहार हो तो जीवन सुचारु रूप से चलता है। साथ ही साथ मेधा, बुद्धि और स्मृति का विकास होता है। आचार्यश्री महाप्रज्ञ के शब्दों में संतुलित आहार का अर्थ है खाद्य, तेल, वायु व प्रकाश। सूर्य से शरीर को विटामिन 'डी' मिलता है। चमड़ी के आस-पास ऐसा द्रव्य है जहां सूर्य किरणें पड़ते ही विटामिन 'डी' उत्पन्न होता है। शरीर पर पड़ने वाली सूर्य किरणें कैल्शियम और फॉसफोरस की पूर्ति करती हैं। संतुलित आहार से पृथ्वी, पानी, अग्नि व वायु—इन तत्त्वों का शरीर में संतुलन बना रहता है। खनिज के रूप में शरीर में पृथ्वी तत्त्व है। दूध में अभ्रक, जीरे में लौहा और मां के दूध में चांदी पाई जाती है। मनुष्य संतुलित भोजन की बजाय यदि स्वादवश खाद्य पदार्थ लेते हैं तो परिणामस्वरूप स्वास्थ्य से हाथ धो बैठते हैं।

एक व्यक्ति के भोजन की मात्रा 32 कवल निर्धारित की गई है। उससे पांच-दस कवल कम खाना ऊनोदरी तप है। चिकित्सकों का कहना है— 'उदर का आधा भाग आहार से, चौथाई भाग जल और चौथाई भाग वायु के आवागमन के लिए खाली रखें।' गांधी के शब्दों में 'स्वाद के लिए खाना अज्ञानता है। जीने के लिए खाना आवश्यकता है और संयम की रक्षा के लिए खाना साधना है।'

वैज्ञानिकों का कहना है कि यदि व्यक्ति उचित आहार करता है और आहार विधि का सम्यक् अनुपालन करता है तो आधे से अधिक अस्पताल स्वतः बंद हो जाएं। ओघनिर्युक्ति में आचार्य भद्रबाहु ने कहा है—

हियाहारा मियाहारा अप्पाहारा य जे नरा।
न ते विज्जा तिगिंच्छति अप्पाणं ते तिगिच्छगा।।

जो मनुष्य हितभोजी, मितभोजी और अल्पभोजी होता है, उनकी चिकित्सा वैद्य नहीं करते। वह अपना चिकित्सक खुद होता है। आचार्य उमास्वाति ने प्रशमरति प्रकरण में कहा है—

कालं क्षेत्रं मात्रां स्वात्म्यं द्रव्य-गुरु लाघवं स्वबलम्।
ज्ञात्वा योऽभ्यवहार्यः भुङ्क्ते किं भैषजेस्तस्य।।

अर्थात् जो काल, क्षेत्र, मात्रा, शरीर के लिए हितकारी, द्रव्य की गुरुता-लघुता एवं अपने बल का विचार कर भोजन करता है उसे दवा की जरूरत नहीं पड़ती। वो अपना चिकित्सक खुद होता है।

हिताहार—जो आहार सम धातुओं को प्रकृति में स्थापित करता है और विषम धातुओं को सम करता है, वही हिताहार है। जो हितकर भोजन करता है। जो स्वाद की दृष्टि से नहीं खाता है। ऋतु के अनुसार स्वास्थ्य के मुताबिक खाता है। सर्दी में गरम चीजें लेता है, किंतु गर्मी में गरम चीजें वर्जित हैं। आरोग्य दृष्टि से गर्म वस्तुएं आंतें, आमाशय, पक्वाशय के विरुद्ध हैं। ठंडी चीजें दांत, गला, आंत के लिए नुकसानकारक हैं। हिताहार का अर्थ है—स्वास्थ्य के अनुकूल आहार।

नमक, चीनी का अतिसेवन, तली-भुनी चीजें, मसालेदार चीजें, सड़े-गले पदार्थ, बासी खाद्य, पाव रोटी, सफेद चीनी, मिठाइयां, उत्तेजक पदार्थ, एक समय में अनेक खाद्य पदार्थ (रोटी, दाल, खीर, दूध, घी, अचार, फल, मेवे), बेमेल पदार्थ (घी और शहद, दूध और नमक या नमकीन) स्वास्थ्य-दृष्टि से अहितकर हैं। मिर्च, मसाले, तेल—इन उत्तेजक पदार्थों के सेवन से रक्त में अम्लता अधिक बढ़ जाती है जो नानाविध रोगों का कारण होती है।

मिताहार : वैद्यकशास्त्र में उल्लिखित है—'ये गुणाः लंघने प्रोक्ताः ते गुणाः स्वल्पभोजने'—उपवास करने से जो लाभ होता है, वही लाभ कम खाने से भी होता है। भगवान बुद्ध ने कहा—'एक बार हल्का आहार करने वाला महात्मा है। दो बार संभल कर खाने वाला बुद्धिमान तथा भाग्यवान है। पर इससे अधिक और बेहिसाब खाने वाला महामूर्ख, अभागा और पशु है।' आगमों में उल्लेख आता है 'मायन्ने असणपाणस्सै।' परिमित भोजन ऊनोदरी तप के अंतर्गत आता है। एक व्यक्ति के भोजन की मात्रा 32 कवल निर्धारित की गई है। उससे पांच-दस कवल कम खाना ऊनोदरी तप है। चिकित्सकों का कहना है—'उदर का आधा भाग आहार से, चौथाई भाग जल और चौथाई भाग वायु के आवागमन के लिए खाली रखें।' गांधी के शब्दों में 'स्वाद के लिए खाना अज्ञानता है। जीने के लिए खाना आवश्यकता है और संयम की रक्षा के लिए खाना साधना है।' गांधीजी के शब्दों में व्यक्ति के आहार करने का उद्देश्य स्वाद के लिए नहीं, बल्कि शरीर को दास की तरह पालने का होना चाहिए।

आचार्य भिक्षु ने शील की नव बाड़ नामक ग्रंथ में लिखा है—अधिक भोजन करने से रूप, बल और शरीर—ये तीनों क्षीण होते हैं। अधिक भोजन करने वाले को प्रमाद, निद्रा और आलस्य सताता रहता है। अतिभोजन न केवल रोग पैदा करता है, बल्कि विषय-वासना की भी वृद्धि करता है। कहा गया है कि मनुष्य जितना खा लेता है उसका एक तिहाई भाग भी नहीं पचा सकता। जिसका परिणाम यह होता है कि बचा भोजन पेट में रहकर रक्त को विषैला बना देता है जो अनेक रोगों का कारण बनता है, जिससे जीवनी शक्ति को दोहरा श्रम करना पड़ता है। एक कार्य भोजन को पचाने का और दूसरा कार्य आमाशय स्थित अनावश्यक भोज्य पदार्थ-जनित विषों से शरीर को मुक्त कराने का।

क्षमाश्रमण जिनभद्र वृहत्कल्पभाष्य में लिखा है—

'अप्पाहारस्स न इंदियाइं विसएसु संपत्ति।
नेव किलम्मइ तवसा रसेसु न सज्जए यावि।।

जो अल्पाहारी होता है उसकी इंद्रियां विषय-भोग की ओर नहीं दौड़तीं। तप से वह क्लान्त नहीं होता और स्वादिष्ट भोजन में आसक्त नहीं होता।

स्वास्थ्य की दृष्टि से पेट को हल्का रखना चाहिए ताकि हवा, पानी और पाचन के लिए सुगमता रहे। आचार्य सोमदेव ने नीति वाक्यामृत में कहा है—यो मितं भुङ्क्ते स बहु भुङ्क्ते। जो कम खाता है वह बहुत खाता है। आज का मनुष्य एक भाग अपने लिए खाता है और तीन भाग डॉक्टर के लिए खाता है। कम खाना, कम वस्तुएं खाना, कम बार खाना, खाने के बाद एक घंटे तक भार महसूस न हो, ऐसा खाना, अधिक वस्तुएं न खाना—क्योंकि पाचक रस सीमित होता है। ये समस्त तत्त्व मिताहार में समाविष्ट हैं।

सात्त्विक आहार—भोजन का असर सूक्ष्म भावनाओं और मानसिक विचारों पर पड़ता है। भोजन बनाते समय कैसी विचारधारा है, इसका प्रभाव स्वास्थ्य पर पड़ता है।

'आहार शुद्धौ सत्त्वशुद्धिः सत्त्वशुद्धौ ध्रुवास्मृति।' आहार की शुद्धि होने पर अंतःकरण की शुद्धि होती है और अंतःकरण की शुद्धि होने पर स्मृति अचल होती है। डॉक्टर की अपेक्षा सात्त्विक आहार रोग भगाने में अधिक उपयोगी हैं। विशुद्ध आहार से मानव-मन निरोगी, संयमी, पवित्र, उत्तम और शांत रहता है।

शुद्ध आहार का पहला लक्षण है न्याय द्वारा अर्जित धन-संपत्ति से भोजन प्राप्त करना। दूसरा लक्षण है आहार का प्राकृतिक और सात्त्विक होना। सात्त्विक आहार भी ठूंस-ठूंस कर न खाया जाए, क्योंकि अधिक मात्रा में लेने से भोजन पचाना भारी हो जाता है। तीसरा लक्षण है आहार का सप्राण होना। जिन सब्जियों को धूप पर्याप्त मिलती हैं वे सब्जियां सप्राण हैं। जमीकंद सात्त्विक आहार के अंतर्गत नहीं है।

जीवन के चार घटक हैं—शारीरिक, बौद्धिक, मानसिक और भावनात्मक। ये चारों घटक आहार से प्रभावित होते हैं। बुद्धि क्षयोपशम-जनित है। ब्राह्मी की पत्तियां, आंवला, शंखपुष्पी आदि अनेक पदार्थ बुद्धिसंवर्धक हैं। चूर्णि में कहा गया है—'जैसा खाए अन्न, वैसा होवे मन'। मन और अन्न का गहरा संबंध है। मन-मस्तिष्क रासायनिक प्रक्रिया से प्रभावित होता है। मस्तिष्क की रासायनिक प्रक्रिया भोजन से प्रभावित होती है। भोजन विकृत तो मन क्षुब्ध, उत्तेजित हो जाता है। जो रूखा खाते हैं वे क्रोधी प्रकृति के होते हैं। प्रोटीन पर्याप्त मात्रा में न मिले तो आदमी चिड़चिड़ा हो जाता है।

भोजन से चित्त की निर्मलता-पवित्रता भी जुड़ी हुई है। रसनेंद्रिय का संबंध काम केंद्र से जुड़ा हुआ है। शुद्ध ईंधन शरीर में डालने से शरीर स्वस्थ, निरोग व प्रसन्नचित्त रहता है, इससे वह स्वयं को पहचानने में भी सफलीभूत होता है।

उत्तम स्वास्थ्य, निरामय जीवन के महत्त्वपूर्ण बिंदु ध्यान देने योग्य हैं—

1. **उषापान**—उषापान करने से पेट साफ होता है। पेट साफ होने से रोग दूर होते हैं।

2. **चबा-चबाकर खाना**—चबाकर खाने से लार पाचन में मिलता है। पाचन क्रिया मुंह से ही शुरू हो जाती है। भोजन न चबाने से भोजन आमाशय में पहुंचने पर आमाशय को अतिरिक्त श्रम करना पड़ता है। यदि दांतों का काम दांतों से लेते रहें तो आंतें भी स्वस्थ रहती हैं। न बहुत जल्दी खाएं और न अति धीरे खाएं। 'तन्मना भुंजीत' होकर आहार करें। प्रातः जल्दी खाने से आंतों की शक्ति-क्षीणता होती है। इसलिए जैनधर्म में नवकारसी प्रहर का विधान है।

3. **गमन योग**—भोजन के बाद सौ कदम चलें। भोजन के पश्चात् पढ़ने-लिखने व मनन करने का कार्य न करें क्योंकि खाने के बाद रक्तप्रवाह जठराग्नि की ओर जाता है। चिंतन-मनन से पाचन कार्य में बाधा पहुंचती है। चंद्रस्वर में खाना वर्जित है।

4. **न सोएं न पीएं**—भोजन के बाद तुरंत सोने से वायु बढ़ती है। स्वास्थ्य की दृष्टि से भोजन के बाद तुरंत सोना और पीना वर्जित है। एक घंटे तक पानी पीना व सोना नहीं चाहिए। यदि भोजन के समय पानी पीने की आवश्यकता हो तो एक या दो घूंट पीया जा सकता है।

5. **व्यायाम**—आहार से रक्त का निर्माण होता है। व्यायाम से रक्त पूरे शरीर में पहुंचता है। श्वासोच्छ्वास रक्त की शुद्धि करता है। व्यायाम से रक्तसंचार तीस गुणा अधिक बढ़ जाता है। परिणामतः श्वेतकणों, लालकणों की संख्या बढ़ जाती है। व्यायाम से शरीर में तापमान बढ़ता है। बढ़ा हुआ तापमान विषों को जलाता है। मल-निष्कासन और पाचनक्रिया अच्छी बनी रहती है। व्यायाम से पसीना आता है। पसीने के जरिए विजातीय द्रव्य का निष्कासन होता है। नियमित व्यायाम से कार्यक्षमता भी बढ़ती है। स्नायुतंत्र मजबूत बनता है।

आहार का परिणाम—

शक्तेर्वृद्धिः क्षतेपूर्तिः विजातीयस्य निर्गमनम्।
लाघवश्च प्रसादश्च भोजने परिवीक्ष्यताम्।।

शक्तिवृद्धि—आहार से शरीर में शक्ति का संचय होता है।

क्षतिपूर्ति—नैरंतिक क्रियाओं से शारीरिक, मानसिक शक्ति क्षीण होती है। आहार उस शक्ति की पूर्ति करता है।

विजातीयता का निर्गमन—मलों का निस्सरण न होने से धमनियां अकड़ जाती हैं। जिसके कारण बुढ़ापा जल्दी आता है। चेहरे पर झुर्रियां पड़ जाती हैं। बुढ़ापे का अर्थ है मलों का जमाव। अवस्था, वेग-निरोध व अतिभोजन से मल-विसर्जन में मंदता आती है। व्यायाम एवं उपवास से इन तीनों अवस्थाओं में परिवर्तन किया जा सकता है।

लघुता—सम्यक् आहार से आलस्य, जड़ता दूर हो जाने से हल्कापन आता है।

प्रसन्नता—सम्यक् आहार से प्रसन्नता में वृद्धि होती है।

आहार के साथ अनाहार (उपवास), साप्ताहिक, पाक्षिक या मासिक होता रहे तो व्यक्ति पूर्णतः स्वस्थ रहता है। उपवास स्थूलता का दुश्मन है। उपवास से जो कमजोरी

आती है वह भोजन छोड़ने से नहीं आती। बल्कि शरीर में जमी हुई विकृति के कारण आती है। उपवास की गर्मी प्राणशरीर तक पहुंच जाती है जिसके परिणामस्वरूप सूक्ष्म शरीर कुछ शक्तिवर्द्धक बनता है। उपवास से मोटापा दूर होता है, आलस्य से छुटकारा होता है, जीर्ण रोगों से मुक्ति होती है तथा श्वेतकण सामान्य बनते हैं। भावप्रकाश में लिखा है कि जठराग्नि आहार करने पर आहार को पचाती है। जबकि उपवास शरीर के दोषों को पचाकर उसे निर्मल बनाता है। रोग दूर करने तथा स्वस्थ रहने के लिए उपवास प्रकृति-प्रदत्त एकमात्र ओषधि है। अयोग्य खानपान, अनियमित जीवन, व्यसन तथा श्रम का अभाव स्वास्थ्य के बाधक तत्त्व हैं। यदि व्यक्ति आहार-संयम व आहार-विवेक का पूर्ण खयाल रखता है तो अपने आरोग्य की चाबी चिकित्सकों को नहीं देता है बल्कि अपने हाथ में रखता है। ❖

फार्म-4 (नियम 8 देखिए)

1.	प्रकाशन स्थान	:	गंगाशहर, बीकानेर
2.	प्रकाशन अवधि	:	मासिक
3.	मुद्रक का नाम	:	दीपचन्द सांखला
	क्या भारतीय नागरिक है	:	हां
	पता	:	सांखला प्रिण्टर्स, सुगन निवास
		:	चन्दनसागर, बीकानेर
4.	प्रकाशक का नाम	:	भंवरलाल सिंघी
	क्या भारतीय नागरिक है	:	हां
	पता	:	जैन श्वेताम्बर तेरापंथी महासभा
		:	शाखा कार्यालय तेरापंथी भवन,
		:	गंगाशहर 334401 (बीकानेर) राजस्थान
5.	संपादक का नाम	:	शुभू पटवा
	क्या भारतीय नागरिक है	:	हां
	पता	:	भीनासर, बीकानेर
6.	उन व्यक्तियों के नाम व पते जो समाचार पत्रों के स्वामी हों तथा जो समस्त पत्रों के एक प्रतिशत से अधिक के साझेदार या हिस्सेदार हों।	:	जैन श्वेताम्बर तेरापंथी महासभा 3, पोर्चुगीज चर्च स्ट्रीट, कोलकाता-1

मैं भंवरलाल सिंघी एतद्द्वारा घोषित करता हूं कि मेरी अधिकतम जानकारी एवं विश्वास के अनुसार ऊपर दिए गए विवरण सत्य हैं।

भंवरलाल सिंघी

प्रकाशक के हस्ताक्षर

बालकथा

कोई किसी का नहीं

रामकृष्ण परमहंस

एक गांव में एक ब्राह्मण रहता था। ब्राह्मण के घर में सब कुछ था—धन, कुटुंब, यश और विद्या, सब कुछ। ब्राह्मण के जीवन की गाड़ी बड़े सुख और आनंद के साथ चल रही थी।

ब्राह्मण धार्मिक प्रकृति का था। वह पूजा-पाठ तो करता ही था, साधु-संन्यासियों में भी उसकी बड़ी आस्था थी। उसके पास किसी चीज की कमी तो थी नहीं, उसका धर्म और भक्ति का जहाज भी बड़े आनंद के साथ अबाध गति से आगे बढ़ता जा रहा था।

ब्राह्मण ने अभी तक किसी से दीक्षा नहीं ली थी। वह कई वर्षों से किसी ऐसे गुरु की खोज में था जो सर्व प्रकार से योग्य हो। उसने बहुत-से साधु-संन्यासी देखे, पर उसका मन किसी पर न जमा। गुरु बनाने के संबंध में उसकी एक कसौटी थी—'जो कहे, उसे करके दिखाए।' उसकी इस कसौटी पर कोई खरा नहीं उतरा।

आखिर ब्राह्मण की एक संन्यासी से भेंट हुई। संन्यासी एक सत्संग में अपने भक्तों को उपदेश दे रहे थे। वह अन्य बहुत-सी बातों के अतिरिक्त कह रहे थे—'इस संसार में कोई किसी का नहीं, जितने नाते-रिश्ते हैं, सब स्वार्थ के ही कारण हैं। अतः भगवान को छोड़कर किसी में भी अपने मन को लगाना नहीं चाहिए।'

ब्राह्मण को संन्यासी की और सभी बातें तो प्रिय लगीं पर उसे उनकी यह बात न जंची कि संसार में कोई किसी का नहीं, क्योंकि उसके घर में मां, पत्नी, पुत्र, पुत्री, भाई आदि जितने लोग थे, सब उससे प्रेम करते थे। उसे उनके प्रेम पर बड़ा गर्व था। वह उन्हें अपना सब कुछ समझता था। यहां तक कि वह उनके प्रेम को सब कुछ मानकर उनके कल्याण के लिए भगवान से प्रार्थनाएं भी किया करता था।

ब्राह्मण को संन्यासी की और सभी बातें तो प्रिय लगीं पर उसे उनकी यह बात न जंची कि संसार में कोई किसी का नहीं, क्योंकि उसके घर में मां, पत्नी, पुत्र, पुत्री, भाई आदि जितने लोग थे, सब उससे प्रेम करते थे। उसे उनके प्रेम पर बड़ा गर्व था। वह उन्हें अपना सब कुछ समझता था। यहां तक कि वह उनके प्रेम को सब कुछ मानकर उनके कल्याण के लिए भगवान से प्रार्थनाएं भी किया करता था।

सत्संग समाप्त होने पर ब्राह्मण संन्यासी के चरणों के पास जा बैठा। उसने संन्यासी से कहा—'महाराज, मैं आपको अपना गुरु बनाना चाहता हूं, पर आपको मुझे एक बात प्रत्यक्ष रूप में करके दिखानी होगी।'

संन्यासी ने उत्तर दिया—'भाई, तुम मुझे गुरु बनाओ या न बनाओ पर यदि मुझमें तुम्हारी बात को प्रत्यक्ष करके दिखाने की क्षमता होगी तो मैं अवश्य प्रयत्न करूंगा।'

ब्राह्मण ने निवेदन किया—'महाराज, अभी-अभी आपने अपने उपदेश में कहा है, 'इस संसार में कोई किसी का नहीं।' क्या आप अपनी इस बात को प्रमाणित कर सकते हैं ?'

ब्राह्मण अपनी बात समाप्त करके संन्यासी के मुंह की ओर देखने लगा। संन्यासी उसकी बात सुनकर विचारों में डूब-से गए।

ब्राह्मण ने कुछ क्षणों तक मौन रहकर पुनः कहना आरंभ किया—'महाराज, मैं आपकी इस बात को सत्य नहीं मान सकता। मेरी अपनी बात ले लीजिए। मैं अपने कुटुंबियों के लिए दिन-रात परिश्रम करता रहता हूं। यहां तक कि उनके कल्याण के लिए ईश्वर से प्रार्थनाएं भी किया करता हूं। मैं यह कैसे मान लूं कि वे समय पर मेरा साथ नहीं देंगे ? मेरे सिर में जरा भी पीड़ा होती है तो मेरी मां व्याकुल हो उठती है। वह कहती है कि तुम्हारे सिर की पीड़ा अच्छी हो जाए, भले ही कोई उसके प्राण ले ले। पत्नी का तो दम ही घुटने लगता है। इसी प्रकार मेरे पुत्र और पुत्रियां आदि भी मेरे लिए व्याकुल हो उठते हैं। फिर मैं यह कैसे मान लूं कि उनका मेरे प्रति प्रेम नहीं है।'

संन्यासी विचारों में डूबे हुए थे। वे बड़े ध्यान से ब्राह्मण की बातें सुन रहे थे। उन्होंने ब्राह्मण की ओर देखते हुए कहा—'सचमुच, तुम बड़े अच्छे विचार के हो जो अपने कुटुंब के प्रेम और श्रद्धा पर भरोसा रखते हो, पर मैं कहता हूं कि यह तुम्हारा भ्रम है।'

ब्राह्मण आश्चर्य के साथ बोल उठा—'यह मेरा भ्रम है !'

संन्यासी ने दृढ़ता के साथ उत्तर दिया—'हां, यह तुम्हारा केवल भ्रम है।'

ब्राह्मण ने संन्यासी की ओर देखते हुए कहा—'क्या आप सिद्ध कर सकेंगे कि यह मेरा भ्रम है ?'

संन्यासी ने उत्तर दिया—'अवश्य, पर मैं जैसा कहूंगा वैसा तुम्हें करना होगा।'

ब्राह्मण संन्यासी के समक्ष सिर झुकाकर बड़ी उत्सुकता के साथ उनकी ओर देखने लगा।

संन्यासी ने कहा—'तुम अपने घर चलो और उदर-पीड़ा का बहाना करके चारपाई पर पड़ जाओ। तुम इस प्रकार आह-कराह करो, जिससे यह पता चले कि तुम्हारे पेट में भयंकर यंत्रणा होती है।'

ब्राह्मण ने बड़ी उत्सुकता से प्रश्न किया—'पर इससे क्या होगा महाराज ?'

संन्यासी ने उत्तर दिया—'तुम अपने घर चलकर पेट की पीड़ा का बहाना करके चारपाई पर पड़ो तो। मैं स्वयं उपस्थित होकर तुम्हें बताऊंगा कि इससे क्या होगा !'

ब्राह्मण संन्यासी की बात मानकर, अपने घर जा पहुंचा और पेट की पीड़ा का बहाना करके चारपाई पर पड़ गया। वह चारपाई पर पड़कर इस प्रकार छटपटाने लगा, मानो सचमुच उसके पेट में भयंकर पीड़ा हो रही है।

ब्राह्मण की छटपटाहट को देखकर उसके कुटुंबी अति व्याकुल हो उठे, उसके पास बैठकर उसकी उदर-पीड़ा को शांत करने के लिए उपचार करने लगे।

वैद्य, डॉक्टर, हकीम व सभी बुलाए गए। पर ज्यों-ज्यों दवा दी जाने लगी, ब्राह्मण और भी अधिक जोर-जोर से कराहने लगा। कुटुंबी फिर करते तो क्या करते ? दुख और शोक की तरंगों में डूबने-उतराने लगे।

ब्राह्मण के कुटुंबी दुख और शोक की तरंगों में डूब-उतरा रहे थे कि संन्यासी आ पहुंचे। संन्यासी ब्राह्मण के पास बैठकर उसके रोग की परीक्षा करने लगे।

संन्यासी ने ब्राह्मण के रोग की परीक्षा करके बड़े दुख के साथ कहा—'बीमारी बड़ी गहरी है। वह तब तक दूर न होगी, जब तक कोई अपनी जान न देगा।'

ब्राह्मण के कुटुंब के सभी लोग आश्चर्यचकित होकर संन्यासी की ओर देखने लगे। किसी के मुख से कुछ भी शब्द न निकला।

संन्यासी ने कुछ क्षणों तक मौन रहकर ब्राह्मण की वृद्धा मां से कहा—'वृद्धा मां ! यह तुम्हारा पुत्र बड़ा कमाऊ भी है। तुम अधिक वृद्ध हो गई हो ! तुम क्यों नहीं अपने बेटे के लिए अपनी जान देकर उसके प्राण

बचा लेतीं ? तुम इसकी मां हो। तुम इसके कल्याण के लिए त्याग न करोगी तो फिर दूसरा कौन करेगा ?'

वृद्धा के ऊपर तो तुषार-सा गिर पड़ा। वह नेत्रों को गीला करके बोल उठी—'महाराज, आप कह तो रहे हैं बिल्कुल सत्य ही, पर कठिनाई तो यह है कि घर में कई छोटे-छोटे बच्चे हैं। वे मुझसे बहुत हिले-मिले हैं। यदि मैं न रहूंगी, तो वे बेचारे सिसक-सिसक कर अपने प्राण तज देंगे। हाय, मैं कितनी अभागिनी हूं जो अपने बेटे के लिए अपनी जान भी नहीं दे सकती।'

वृद्धा मां से उत्तर पाने पर संन्यासी ने ब्राह्मण की पत्नी की ओर देखा। पत्नी की ओर देखते हुए संन्यासी ने कहा—'तुम तो इनकी सहधर्मिणी हो। इनके दुख-सुख की साथिनी हो। तुम्हें अवश्य इनका दुख दूर करने के लिए अपने प्राण देने चाहिए।'

पत्नी बोल उठी—'महाराज, मैं तो बिल्कुल तैयार हूं पर यदि मैं मर गई तो वृद्धा सास की सेवा कौन करेगा ?'

इसी प्रकार संन्यासी ने एक-एक करके ब्राह्मण के पुत्रों, पुत्रियों और भाइयों से भी जान देने के लिए कहा। पर कोई तैयार न हुआ। सबने कोई न कोई बहाना बना दिया।

जब कोई अपने प्राण देने के लिए उद्यत न हुआ, तब संन्यासी ने ब्राह्मण की ओर देखते हुए कहा—'देखो, कोई भी तुम्हारे दुख को दूर करने के लिए अपने प्राण देने के लिए तैयार नहीं है। अब तो तुम्हें यह मानना ही होगा कि संसार में कोई किसी का नहीं है।' ब्राह्मण उठकर बैठ गया। उसने संन्यासी के चरणों पर मस्तक टेक कर उन्हें अपना गुरु बना लिया। ❖

रचनाकारों से

जैन भारती में नैतिक-आध्यात्मिक स्तर के विचारप्रधान व विश्लेषणात्मक लेखों और
मौलिक कहानियों-कविताओं का स्वागत है

•

प्रकाशित-प्रसारित रचनाओं का उपयोग करना संभव नहीं होगा

•

अपनी रचनाएं कागज के एक तरफ साफ-साफ टाइप की हुई भेजें
हाथ से लिखी हुई रचनाएं भी कागज के एक ओर ही लिखी हों

•

लिखावट साफ-सुथरी बिना काट-छांट के होनी चाहिए
कागज के एक ओर पर्याप्त हाशिया अवश्य छोड़ें

•

जीवन परिचय, व्यक्तित्व व कृतित्व पर लिखे गए लेख सीधे नहीं भेजें
ऐसे लेख हमारे मांगने पर ही लिखें व भेजें तो बेहतर होगा

•

सम-सामयिक विषयों पर विचारात्मक टिप्पणियों का भी हम स्वागत करेंगे
ऐसे लेख भी नैतिक-आध्यात्मिक स्तर के हों और विश्लेषणात्मक हों तो बेहतर होगा

•

महिलाओं, किशोरों और बाल-मन पर आधारित रचनाओं का हम स्वागत करेंगे

•

आप चाहें तो कहानी-कविता भी भेज सकते हैं

•

अप्रकाशित रचनाएं लौटाना अथवा इस बारे में पत्र-व्यवहार करना संभव नहीं होगा

•

बेहतर हो, भेजी गई रचना की एक प्रति रचनाकार पहले से ही अपने पास रखें

अहंकार और ममकार के विसर्जन का महोत्सव

प्रस्तुतकर्ता—भवानी सोलंकी

तेरापंथ धर्म संघ के अधिष्ठाता और दशमाचार्य आचार्यश्री महाप्रज्ञजी ने 137वें तेरापंथ मर्यादा महोत्सव पर अपने उद्बोधन में इसे 'अहंकार और ममकार के विसर्जन का महोत्सव' बताया और देश के कोने-कोने से आए विशाल जनसमूह को संबोधित करते हुए उन्होंने कहा कि आज वैज्ञानिक-बौद्धिक युग है लेकिन यह असहिष्णुता का युग भी है, ऐसे युग में मर्यादाएं निर्मित करना और उनका पालन करना महत्त्वपूर्ण तो है ही, अनुकरणीय भी है। उन्होंने बताया कि तेरापंथ के इस मर्यादा महोत्सव का आधार एक 'पन्ना' है, जिसे संवत् 1859 (सन् 1802) में लिखा गया। आचार्यश्री ने उस मूल मर्यादा-पत्र की प्रतिष्ठापना भी इस अवसर पर की।

गंगाशहर (बीकानेर) में माघ शुक्ला सप्तमी (31 जनवरी, 2001) को तीन दिवसीय मर्यादा महोत्सव का मुख्य कार्यक्रम संपन्न हुआ। राज्य के मुख्यमंत्री श्री अशोक गहलोत सहित उनके मंत्रिमंडलीय सहयोगी श्री बुलाकीदास कल्ला, सांसद श्री रामेश्वर डूडी व श्रीमती जमुना बारुपाल, विधायक श्री मानिकचन्द सुराणा व श्री चन्दनमल बैद (दोनो पूर्व वित्तमंत्री), राज्य खादी ग्रामोद्योग मंडल के अध्यक्ष श्री भवानीशंकर शर्मा, निशक्त जन आयुक्त श्री दामोदर थानवी आदि अनेक प्रमुख जन इस महोत्सव के साक्षी बने।

अपने उद्बोधन में आचार्यश्री महाप्रज्ञजी ने जहां इसे अहंकार और ममकार के विसर्जन का महोत्सव बताया, वहीं इसे सहिष्णुता और विनम्रता का महोत्सव भी कहा। मर्यादा महोत्सव की उनकी इस अनूठी परिभाषा के साथ उन्होंने इसे मर्यादा की मर्यादा और अनुशासन का अनुशासन पर्व भी बताया।

अपने पूर्ववर्ती आचार्यों को श्रद्धापूर्वक याद करते हुए उन्होंने तेरापंथ संघ को शक्तिशाली बनाने में उनके योगदान का विनम्र स्मरण भी किया।

तीन दिन के इस मर्यादा महोत्सव का पहला रोज वसंत पंचमी का दिन था। आचार्यश्री महाप्रज्ञजी ने कहा—'वसंत वहीं है जहां सेवा है, जहां सेवा नहीं वहां वसंत भी नहीं—वहां केवल पतझड़ है। आज का दिन सेवाकार्यों के मूल्यांकन का दिन है।' उन्होंने कहा कि सेवा करने से जहां वात्सल्य और भक्ति में बढ़ोतरी होती है, वहीं सेवा टूटे दिलों को भी जोड़ देती है। सेवा एक तप है, सेवा सबसे बड़ी पूजा है। आचार्यश्री महाप्रज्ञजी ने कहा—'जहां सेवा है वह संघ अविच्छिन्न है। सेवा से समाधि को प्राप्त किया जा सकता है।' उन्होंने साधु-साध्वियों का आह्वान किया कि वे हर समय सेवा के लिए तत्पर रहें।

जहां सम्यक् दृष्टि है वहीं करुणा है। करुणा को केवल दुख और कष्ट की घड़ियों तक सीमित न किया जाए। मानवीय संबंधों में सुधार के लिए जातिवाद, छुआछूत, आर्थिक विषमता-उन्मूलन और शांत सहवास के लिए भी करुणा जरूरी है। समाज में ऐसी करुणा जगे—यह आवश्यक है।

इसी रोज आचार्यश्री महाप्रज्ञजी ने तेरापंथ के सेवा-केंद्रों के लिए कुछ नियुक्तियों की घोषणा भी की। साध्वी चांदकुमारीजी को बीदासर सेवाकेंद्र, साध्वी स्वर्णलताजी को डूंगरगढ़ सेवाकेंद्र, साध्वी भीखांजी (लाडनूं) को गंगाशहर सेवाकेंद्र की वंदना के आदेश दिए। मुनिश्री कमलकुमारजी को छापर सेवाकेंद्र प्रदान किया। इससे पूर्व शासन-गौरव मुनिश्री मधुकरजी ने मर्यादा-घोष व मर्यादा-गीत का संगान किया। शासन-गौरव मुनिश्री बुद्धमलजी ने मुनिगण व साध्वीश्री राजीमतीजी ने साध्वीवृंद की ओर से सेवा का अवसर प्रदान करने का विनम्र अनुरोध किया।

इस मौके पर 'आचार्यश्री महाप्रज्ञ अहिंसा प्रशिक्षण पुरस्कार' की घोषणा भी की गई। इस वर्ष का पुरस्कार श्री हीरालाल श्रीमाली व श्री धर्मेंद्र आचार्य को संयुक्त रूप से दिया गया। 'एम.जी. सरावगी फाउंडेशन' कोलकाता की ओर से श्री गोविन्दलाल सरावगी ने यह पुरस्कार अर्पित किया। जैन विश्वभारती के अध्यक्ष श्री मूलचन्द बोथरा ने श्री हीरालाल श्रीमाली को सम्मानपत्र भेंट किया। इस मौके पर श्री हीरालाल श्रीमाली ने भी अपना मंतव्य प्रस्तुत किया।

इसी रोज जैन श्वेताम्बर तेरापंथ महासभा का अलंकरण समारोह भी संपन्न हुआ। महासभा के महामंत्री श्री भंवरलाल सिंगी ने उन 28 श्रावक-श्राविकाओं का समारोह में उल्लेख किया। महासभा के अध्यक्ष श्री भंवरलाल डागा ने उपस्थितजनों को सम्मानपत्र भेंट किए।

महासभा की ओर से श्री भंवरलाल डागा ने समाज के सर्वोच्च सम्मान 'समाज-भूषण' के लिए जब श्री खेमचन्द सेठिया (गंगाशहर) के नाम की घोषणा की तो जनसमूह आह्लादित हो उठा। श्री सेठिया की सेवाओं का उल्लेख करते हुए श्री डागा ने उन्हें निष्कामभाव से मौन समर्पण वाला व्यक्ति बताया और कहा कि उन्होंने अपने श्रम से संस्थाओं को सींचा है और आज भी उनकी सेवाएं मिल रही हैं।

समाज-भूषण से विभूषित श्री खेमचन्द सेठिया ने कहा कि—मैं एक छोटा-सा सिपाही हूं, मुझे जैसा कहा गया वैसा ही मैंने किया। इस सम्मान के भागीदार वे सब साथी हैं, जिनके सहयोग से सभी कार्य निष्पादित हो सके।

पहले रोज के समारोह में उपस्थित सांसद श्रीमती जमुना बारुपाल ने कहा कि यहां आकर वह गदगद हैं और गुरुजनों के उपदेश से उनका मार्ग प्रशस्त हुआ है।

पहले रोज के कार्यक्रम का संचालन करते हुए मुनिश्री मोहजीतकुमार ने 'सेवा-दिवस' के महत्त्व पर प्रकाश डाला। प्रारंभ में प्रवास व्यवस्था समिति की ओर से श्री लूणकरण छाजेड़ ने आगंतुकों का स्वागत किया।

मुनिश्री सुखलालजी, साध्वी सोमलताजी, समणी मधुरप्रज्ञाजी आदि ने भी अपने विचार प्रकट किए।

मर्यादा महोत्सव के तीनों ही दिनों गुजरात में आए भूकंप और उससे उत्पन्न हालातों का प्रभाव परिलक्षित हो रहा था। गुजरात की भयावह त्रासदी के प्रति सभी लोग पूरी तरह संवेदनशील थे। श्री महेन्द्र कर्णावट ने 26 जनवरी को आए भूकंप और गुजरात में हुई तबाही का जिक्र करते हुए जनसहयोग की अपील की। तुलसी शांति प्रतिष्ठान के श्री टीकमचन्द सेठिया ने भी गुजरात आपदा में जनसहयोग का आह्वान किया।

साध्वीप्रमुखाश्री कनकप्रभाजी ने मर्यादा महोत्सव के अवसर पर आचार्य भिक्षु को कृतज्ञतापूर्वक याद किया, वहीं गुजरात की घटना के संदर्भ में संयम, सादगी व सहिष्णुता को जीवन में उतारने का आह्वान किया। उन्होंने सेवा के महत्त्व को दर्शाते हुए इसे निर्जरा का हेतु बताया।

इस अवसर पर साध्वीप्रमुखाजी द्वारा संपादित आचार्य तुलसी वांग्मय की पांच पुस्तकों का एक सेट आचार्यश्री महाप्रज्ञजी को अर्पित किया गया। ये पांच खंड आचार्यश्री तुलसी के व्यक्तित्व और कृतित्व पर आधारित हैं।

युवाचार्यश्री महाश्रमणजी ने भी मर्यादा महोत्सव के महत्त्व को दर्शाते हुए गुजरात की त्रासदी पर कहा कि—हम उन्हें किस तरह सेवा दे सकते हैं, यह विचारणीय है।

उन्होंने कहा कि गुजरात के पीड़ित-जनों के लिए आध्यात्मिक संबल की भी जरूरत है। इस कार्य के लिए समण-समणियों का उपयोग हो सकता है।

इस अवसर पर आचार्यश्री महाप्रज्ञजी ने साधु-साध्वियों, श्रावक-श्राविकाओं के सेवाकार्यों के मूल्यांकन की चर्चा की। उन्होंने इस क्षेत्र के कार्यकर्ताओं के सेवाभावी रूप का जिक्र किया और बीकानेर के श्री शांतिलाल सुराणा के चिकित्सा संबंधी सेवाकार्यों को प्रशंसनीय बताया।

मर्यादा महोत्सव का दूसरा दिन आचार्यश्री महाप्रज्ञजी के पदारोहण दिवस के रूप में मनाया जाता है। गुजरात की त्रासदी को ध्यान में रखते हुए पदारोहण दिवस को 'करुणा-दिवस' के रूप में मनाने की घोषणा युवाचार्यश्री महाश्रमणजी ने की।

समारोह के पहले रोज मित्र परिषद, कोलकाता की ओर से तिथि-पत्रक, तुलसी प्रबोध (रचयिता—साध्वीप्रमुखा कनकप्रभाजी) के 4 कैसेट्स, राजेन्द्र बोथरा के 8 गीतों के कैसेट्स, जैन विश्वभारती की ओर से प्रकाशित जय तिथि-

पत्रक आदि भेंट किए गए। साध्वी सोमलताजी, समणी भावितप्रज्ञाजी व श्रीमती हंसा दसानी गर्ग की नव प्रकाशित कृतियां भी आचार्यश्री महाप्रज्ञजी को भेंट की गईं।

आचार्यश्री महाप्रज्ञजी को समर्पित साहित्य व कैसेट आदि के बारे में अपनी प्रतिक्रिया प्रकट करते हुए आचार्यश्री ने कहा कि साहित्य, आगम व अन्य विधाओं में संघ में अच्छा कार्य हो रहा है। एक अंग्रेजी पारिभाषिक कोश के कार्य में स्वयं महाश्रमण (युवाचार्यश्री) तन्मयता से लगे हैं। साध्वी विश्रुतविभा व कुछ समणीगण भी इस कार्य में संलग्न हैं। यह कार्य जब सामने आएगा तो एक बड़ी कमी की पूर्ति होगी।

करुणा-दिवस

माघ शुक्ला षष्टि (30 जनवरी 2001) का दिन आचार्यश्री महाप्रज्ञजी के पदारोहण का दिन है। तेरापंथ संघ में यह युवा-दिवस होता है। गुजरात के भूकंप की वजह से इस बार यह दिन करुणा-दिवस के रूप में ही मनाया गया। युवकों में ऊर्जा और जोश, कार्य की क्षमता और उत्साह असंदिग्ध होता है। इसके साथ करुणा का जुड़ाव मानवीय विकास का सुदृढ़ अवलंब बन सकता है। भले गुजरात की त्रासदी से यह विचार आया हो, पर इसका आना लोकहित में महत्त्वपूर्ण है।

इस अवसर पर आचार्यश्री महाप्रज्ञजी ने करुणा और नैतिकता के आपसी जुड़ाव की बात कहते हुए बताया कि—जहां सम्यक् दृष्टि है वहीं करुणा है। करुणा को केवल दुख और कष्ट की घड़ियों तक सीमित न किया जाए, मानवीय संबंधों में सुधार के लिए जातिवाद, छुआछूत, आर्थिक विषमता-उन्मूलन और शांत सहवास के लिए भी करुणा जरूरी है। समाज में ऐसी करुणा जगे—यह आवश्यक है।

गुजरात के भूकंप पर आचार्यश्री महाप्रज्ञजी ने कहा कि—वहां तात्कालित सहयोग के साथ-साथ भावनात्मक जुड़ाव की जरूरत है। मानसिक शांति और मनोबल के लिए आचार्यश्री महाप्रज्ञजी ने एक मंत्र उद्घाटित किया। यह मंत्र है **'ॐ नमो भगवते पार्श्वनाथाय क्षेमंकराय ह्रीं नमः'**। मानसिक संबल के लिए इस मंत्र का जाप किया जाना चाहिए।

समणीवृंद, मुमुक्षुवृंद, साध्वी शशिप्रभा, मुनिश्री दर्शनकुमार, कन्या मंडल गंगाशहर आदि ने इस मौके पर अपनी रचनाएं प्रस्तुत कीं। साध्वी संकल्पश्री, साध्वी मुदितश्री, मुनिश्री किसनलालजी, समणी प्रतिभाश्री, मुनिश्री राकेशकुमारजी, श्री कन्हैयालाल फूलफगर, श्री चन्दनमल बैद, समणश्री श्रुतप्रज्ञ, साध्वी मंगलयशा, श्री सिद्धराज भंडारी, श्री संतोष सुराणा, श्री टीकमचन्द सेठिया आदि ने भी अलग-अलग विचार प्रस्तुत किए। अवसर-विशेष और गुजरात त्रासदी को लेकर साधुवृंद, साध्वीवृंद, समणीवृंद, मुनिश्री जयंतकुमारजी, श्रीमती संतोष बोथरा, श्री संजय बोथरा, श्री कन्हैयालाल बोथरा, श्री भीखमचन्द बैद आदि ने भी अपनी रचनाएं प्रस्तुत कीं। मुनिश्री मधुकरजी ने 'उपासना कक्ष' के बारे में विस्तृत जानकारी दी। आचार्यश्री महाप्रज्ञजी ने सभी जगह यह कक्ष स्थापित करने की प्रेरणा दी।

मर्यादा महोत्सव के इसी क्रम में बड़ी हाजरी का गरिमामय दृश्य भी देखने को मिला। मुनिश्री जंबुकुमार व अन्य संतों ने लेख-पत्र का वाचन किया। महाश्रमणीजी ने भावपूर्व कविता प्रस्तुत की।

युवाचार्यश्री महाश्रमणजी ने इस अवसर पर कहा कि—हम आध्यात्मिक करुणा के प्रकंपन पैदा कर गुजरात त्रासदी की पीड़ा को कर्म-निर्जरा का हेतु बनाएं। उन्होंने आचार्यश्री महाप्रज्ञजी के प्रति अपनी श्रद्धा व्यक्त करते हुए उन्हें कोमलता और करुणा की प्रतिमूर्ति बताया।

साध्वीप्रमुखा कनकप्रभाजी ने आचार्यश्री महाप्रज्ञजी के करुणा-प्रसंगों को संघ को समर्पित करते हुए साध्वी-समुदाय की ओर से निर्मित विभिन्न उपकरणों की उल्लेखनीय जानकारी दी।

इस अवसर पर आचार्यश्री महाप्रज्ञजी ने कई साधु-साध्वियों, श्रावक-श्राविकाओं को अलग-अलग संबोधन व अलंकरण प्रदान करने की घोषणा की। आचार्यश्री ने आचार्यश्री भिक्षु का स्मरण करते हुए आषाढ़ शुक्ला त्रयोदशी को अब से 'बोधि-दिवस' के रूप में मनाने की घोषणा की।

मर्यादा महोत्सव मुख्य कार्यक्रम

माघ शुक्ला सप्तमी (31 जनवरी) का दिन मर्यादा महोत्सव के त्रिदिवसीय कार्यक्रमों का आखिरी और प्रमुख दिवस था। शासन-गौरव मुनिश्री मधुकरजी व मुनिश्री दिनेशकुमारजी ने मर्यादा-गीत का संगान किया। प्रारंभ में समणीवृंद के मंगलाचरण और गंगाशहर महिला मंडल की ओर से गीत प्रस्तुत हुए। इस समारोह को श्री बुलाकीदास कल्ला, मुख्यमंत्री श्री अशोक गहलोत, संघ-प्रवक्ता श्री चंदनमल बैद आदि ने संबोधित किया। मुनिश्री जयकुमारजी ने काव्यमय भावाभिव्यक्ति दी। समणीवृंद और बालमुनिगण ने भी अपनी रचनाएं प्रस्तुत कीं।

गुजरात त्रासदी के कारण उन बालक-बालिकाओं के, जिनके माता-पिता या अभिभावक दुर्भाग्य से नहीं बचे, उनकी शिक्षा-दीक्षा के प्रबंध के लिए जैन विश्वभारती और विमल विद्या विहार, लाडनूं के एक महत्त्वपूर्ण निर्णय की जानकारी

जैन विश्वभारती की ओर से श्री शुभू पटवा ने दी। श्री पटवा ने आचार्यश्री महाप्रज्ञजी की करुणाशीलता को नमन करते हुए तत्परता से लिए जाने वाले उनके निर्णयों को शासन-प्रशासन् में भी अनुकरणीय बताया और जानकारी दी कि गुजंरात के ऐसे निराश्रित बालक-बालिकाओं के शिक्षण व स्वावलंबन का दायित्व जैन विश्वभारती लेगी—जो उन्हें गुजरात सरकार सौंपेगी। श्री पटवा ने यह भी बताया कि गुजरात के एक गांव को भी इसी तरह विकसित करने तथा राजस्थान के भी एक गांव को विकसित करने का दायित्व जैन विश्वभारती लेगी।

मर्यादा महोत्सव पर उपस्थित जन-मेदिनी को संबोधित करते हुए युवाचार्यश्री महाश्रमणजी ने कहा कि—आदमी यदि धर्म की रक्षा करेगा, तो धर्म भी उसकी रक्षा करेगा, पर इसके लिए मर्यादा की अनुपालना होनी चाहिए। उन्होंने मनुष्य-समाज के चारित्रिक पतन की चिंता करते हुए आत्म-निरीक्षण की जरूरत बताई और अणुव्रत, प्रेक्षाध्यान, जीवन-विज्ञान के माध्यम से मानवजाति के विकास की बात कही। युवाचार्यश्री ने कहा कि हम अध्यात्मरूपी धन से गुजरात की मदद करें और जीवन में ईमानदारी व मैत्रीपूर्ण व्यवहार जैसी मर्यादाएं अंगीकार करें।

आचार्यश्री महाप्रज्ञजी ने मर्यादा और नैतिकता के लिए व्यापक अभियान छेड़ने की जरूरत बताई और कहा कि—कोई भी समाज या राष्ट्र बिना मर्यादा के नहीं टिक सकता। उन्होंने कहा कि विभिन्न क्षेत्रों के अग्रणी लोगों को मर्यादा के प्रति अधिक सचेष्ट रहना जरूरी है। आचार्यश्री ने मूल मर्यादा-पत्र का दिग्दर्शन भी कराया और उसका वाचन भी किया।

गुजरात त्रासदी की ओर संकेत करते हुए आचार्यश्री महाप्रज्ञजी ने कहा कि—पृथ्वी सबको धारण करने वाली है, पर पृथ्वी की भी अपनी मर्यादा है। पृथ्वी, आकाश, समुद्र और मनुष्य सबकी अपनी-अपनी मर्यादा है, पर आज तो एक परिवार की मर्यादा भी टूट रही है—यह विचारणीय है।

इस अवसर पर आचार्यश्री महाप्रज्ञजी ने तेरापंथ धर्मसंघ के कार्यकलापों के व्यापक विस्तार को देखते हुए विकेंद्रित व्यवस्था के प्रयोग की घोषणा की और अलग-अलग कार्यक्षेत्रों के लिए साधु-साध्वियों, समण-समणियों को दायित्व सौंपे और इसके लिए उन्हें संकल्प दिलाया।

इस अवसर पर मुनिश्री धनंजयकुमार ने आचार्यश्री महाप्रज्ञजी की नव प्रकाशित पुस्तकें 'भीतर की ओर' व 'चैत्य पुरुष जग जाए' उन्हें अर्पित कीं। मुनिश्री मोहनलालजी आमेट, समणी स्थितप्रज्ञा, साध्वीश्री संघमित्रा, श्री संतोषकुमार सुराणा आदि की ओर से भी अपना-अपना साहित्य भेंट किया गया। तेरापंथ टाइम्स का नया अंक भी भेंट किया गया। तुलसी अध्यात्म नीडम् के श्री मदनकुमार जैन को प्रेक्षाध्यान पुरस्कार प्रदान करने की घोषणा की गई।

मर्यादा महोत्सव के अवसर पर हर बार की तरह इस बार भी आचार्यश्री महाप्रज्ञजी की ओर से रचित **मर्यादा-गीत** का सस्वर गान हुआ। इस अवसर पर कतिपय चातुर्मासों की घोषणाएं भी हुईं।

गंगाशहर में संपन्न यह तीन दिवसीय मर्यादा महोत्सव कई अर्थों में यादगार महोत्सव साबित होगा।

तीनों ही दिवस के कार्यक्रमों का संयोजन मुनिश्री मोहजीतकुमारजी ने किया। 31 जनवरी के कार्यक्रम के संचालन में श्री लूणकरण छाजेड़ भी सहभागी रहे।

यह तीन दिवसीय मर्यादा महोत्सव 'आचार्य तुलसी समाधिस्थल' परिसर में संपन्न हुआ। आचार्यश्री महाप्रज्ञजी ने कहा कि इस **'नैतिकता के शक्तिपीठ'** से विश्व में नैतिकता के प्रति चेतना जगे और संत्रस्त मानवता को त्राण मिले, यही इस स्थल का संदेश है। ❖

महासभा का 87वां वार्षिक अधिवेशन संपन्न

जैन श्वेताम्बर तेरापंथी महासभा का 87वां वार्षिक अधिवेशन 30 जनवरी, 2001 को गंगाशहर में संपन्न हो गया। अधिवेशन की अध्यक्षता महासभा के अध्यक्ष श्री भंवरलाल डागा ने की। महामंत्री श्री भंवरलाल सिंघी ने वार्षिक प्रतिवेदन प्रस्तुत किया। गणाधिपति गुरुदेव तुलसी की पुण्यस्थली होने के कारण गंगाशहर अब एक पावन तीर्थ है और यह अधिवेशन उनकी समाधि के लोकार्पण के तत्काल बाद संपन्न हुआ। आचार्यश्री तुलसी का भव्य स्मारक 'नैतिकता का शक्तिपीठ' के रूप में समाज के लिए उत्प्रेरक बने—आचार्यश्री महाप्रज्ञजी की यह मंगल भावना है। यह अधिवेशन भी इसी प्रेरणा से ओत-प्रोत रहा।

(महासभा के 87वें अधिवेशन की विस्तृत रिपोर्ट आगामी अंक में पढ़ें।)

जैन भारती पाठक पहेली

नियम

1. यह पहेली जैन भारती के दिसम्बर, 2000 अंक में प्रकाशित सामग्री पर आधारित है, अतः इस पहेली के उत्तर जैन भारती के दिसम्बर अंक की सामग्री पर आधारित होने चाहिए। 2. प्रकाशित पहेली के हल/उत्तर दिनांक 3 अप्रैल, 2001 तक जैन भारती कार्यालय, गंगाशहर पहुंच जाने चाहिए। प्रत्येक प्रविष्टि पाठक पहेली प्रारूप में ही भरी होनी चाहिए। 3. अधूरे भरे हुए या देर से पहुंचे हलों पर विचार नहीं किया जाएगा। कटी-फटी प्रविष्टियां स्वीकार नहीं की जाएंगी। 4. इस पहेली के सही हल और विजेताओं के नाम मई, 2001 के अंक में प्रकाशित किए जाएंगे। 5. सर्वशुद्ध हलों में से पुरस्कार का चयन लाटरी-पद्धति द्वारा होगा। प्रतियोगिता में पुरस्कार विजेताओं के बारे में संपादकीय निर्णय अंतिम होगा। इस बाबत कोई पत्र-व्यवहार नहीं किया जाएगा। चयनित प्रथम प्रतियोगी को 151 रुपये का साहित्य अथवा नकद राशि पुरस्कार स्वरूप दी जाएगी, जबकि सर्वशुद्ध हल वाले प्रथम दस प्रतियोगियों को जैन भारती एक साल तक सम्मानार्थ भेजी जाएगी। 6. एक लिफाफे में एक से अधिक प्रविष्टियां भी भेजी जा सकती हैं, लेकिन हर एक प्रविष्टि के साथ कूपन संलग्न करना अनिवार्य है। जिरोक्स (छायाप्रति) या प्रतिलिपि स्वीकार नहीं की जाएगी। 7. लिफाफे पर एक कोने में 'जैन भारती पाठक पहेली' अवश्य लिखा होना चाहिए।

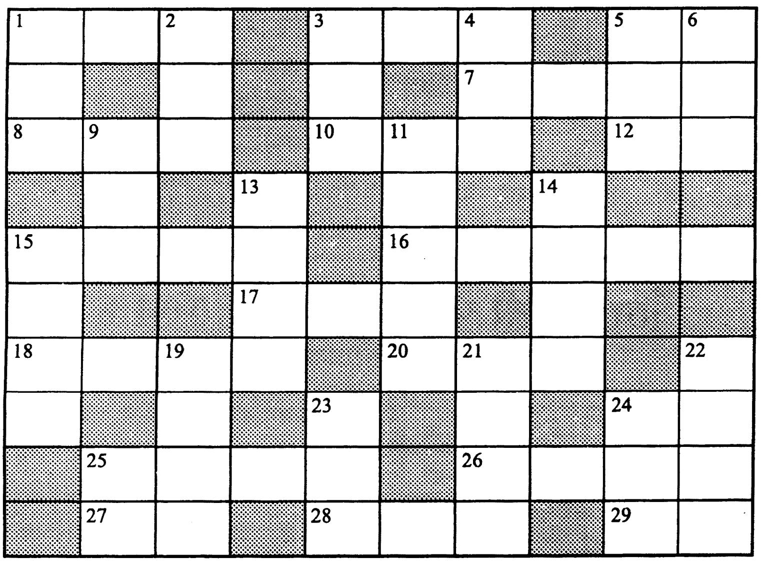

प्रविष्टि कूपन

जैन भारती पाठक पहेली-0013

नाम प्रतियोगी...उम्र............

पूरा पता..

....

....

बाएं से दाएं

1. हर बीता हुआ कल आज का......है [3]
3. हार-जीत, छल.....और गर्व-हताशा को चित्रित करता है। [3]
5. लेकिन उसी......से वह सब पक रहा था [2]
7. लेकिन उसे......नहीं है। [4]
8. इस......कई मामले उच्चतम न्यायालय तक पहुंचते हैं। [3]
10. ......क्रोध क्यों करते हैं ? [3]
12. भारतीय......मानस सहज श्रद्धा-प्रधान रहा है। [2]
15. प्राणी मात्र के प्रति......, [4]
16. जीव के साथ......कर्म-संचय (कर्मशरीर) में भी खोजा जाता है [5]
17. जो व्यक्ति और......दोनों से जुड़े हुए हैं [3]
18. ......वह अंतर्धान हो जाता है। [4]
20. मन ही मन उसे अपने सहपाठियों पर......आया [3]
24. इन सभी महामुनियों के......आदरास्पद और स्मरणीय हैं। [2]
25. इस संदर्भ में अनेक......प्रचलित हैं [4]
26. सबका ध्यान......भिक्षु की उद्घोषणाओं की ओर खिंच गया [4]
27. ......भी वह 'कानून' नहीं रह पाएगा [2]
28. कोई भी विचार तब तक......या क्रांतिकारी कैसे हो सकते हैं [3]
29. भाव-दीक्षा दोनों भिक्षु के......कमलों से संपन्न हुई थी [2]

ऊपर से नीचे

1. हमारे......में करोड़ों-करोड़ों मनुष्य हैं [3]
2. मन-मुटाव होता है। ......होने लगती है। [3]
3. सर्व की ओर उन्मुख......। [3]
4. चमेली की आंखों से दो बूंदें जमीन पर......गई। [3]
5. स्वामीनाथन को......निकालने के लिए दो बार खांसना पड़ा [3]
6. उन पर......चिंतन पर्याप्त मात्रा में उपलब्ध है [3]
9. जो दूसरे को......से मिल रही है, [3]
11. तो हवा का हल्का सा झोंका भी......कर देता है [2,3]
13. जिस व्यक्ति को धर्मोपदेश सुनने का......नहीं मिला, [4]
14. तब उन्हें......होता है कि वे यह क्यों करते हैं [4]
15. जो सारे झंझावातों को......मंजिल पा चुके हैं [4]
19. इसी के......करतूतों ने विषमता, उकताहट और जहालत पैदा की है [4]
21. एक......पैदा होता है और आदमी चिंता में डूब जाता है [4]
22. जब तुम्हारी आंख आए तो तुम एक ही......सकते हो [2,2]
23. उसका......इतना कर्कश था कि, [3]
24. वे एक सशक्त संघ के......बन कर उभरे [3]
25. अब कटते पेड़ों को कविता में......लाओ [2]

जैन भारती पाठक पहेली - 0011

सर्वशुद्ध हल व विजेताओं के नाम

1 द	बा	2 व		3 त	मा	म		4 आ	5 प
रा		र		र			6 सा	का	र
7 र	8 ह	न	9 स	ह	10 न			11 श	म
	व		ह		12 ख	13 र	क		
14 अ	न	15 जा	न			ख		16 अ	ब
न		न		17 म	ग	र		व	
18 ह	र	क	त			19 खा	न	दा	20 न
द		र		21 मा	न	व		22 न	व
	23 म		24 का	न			25 भा		जा
26 ब	द	ना	म		27 अ	न	व	र	त

प्रथम चयनित विजेता—राकेशकुमार राखेचा, श्रीडूंगरगढ़

अन्य दस चयनित विजेता

1. महावीर सोलंकी, बैंगलौर
2. आशादेवी नाहटा, कोलकाता
3. रत्नीदेवी नाहटा, कोलकाता
4. नरपत लोढ़ा, सूरत
5. प्रिया दूगड़, नई दिल्ली
6. कमलचन्द सुराणा, बीकानेर
7. खुशबू चौरड़िया, इरोड़
8. विमलचन्द पित्तलिया, मैसूर
9. ललित भोगर, सूरत
10. मोतीलाल डी. मेहता, सूरत

जैन भारती पाठक पहेली के सभी पुरस्कार (प्रारंभ से ही) बंशीलाल श्रीमाल चेरीटेबल ट्रस्ट तिरपाल उद्योग, फैंसी बाजार, गुवाहाटी (असम) के सौजन्य से।

हार्दिक शुभकामनाओं सहित :

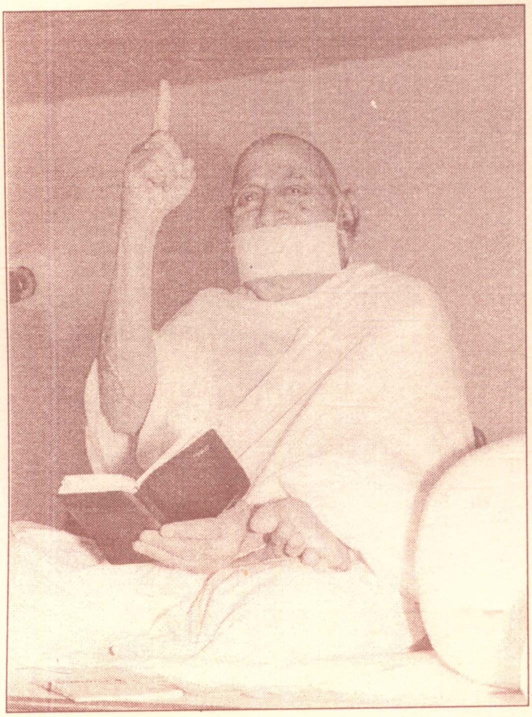

हेमराज शामसुखा

विनीत टेक्सफैब लिमिटेड

101, मामुलपेट, बंगलौर 560053

फोन : 2872355, 2871754

जैन भारती, मार्च, 2001 ■ भारत सरकार पं. सं. : 2643/57 ■ डाक पं. सं. : आर जे/डब्ल्यू आर /11/48/2000

शासन सेवी

जीवराजजी बैद (राजलदेसर)

जन्म : 13 अगस्त, 1941   स्वर्गवास : 7 मई, 2000

Baid Engineers (P) Ltd.

H-8, Civil Township, **Rourkela** 769004

Phone : 503851

भँवरलाल सिंघी, महामंत्री, जैन श्वेताम्बर तेरापंथी महासभा, 3, पोर्चुगीज चर्च स्ट्रीट, कोलकाता-1 के लिए जैन भारती कार्यालय, गंगाशहर, बीकानेर (राज.) से प्रकाशित एवं सांखला प्रिण्टर्स, बीकानेर द्वारा मुद्रित।